

ISSN: 0971-8478

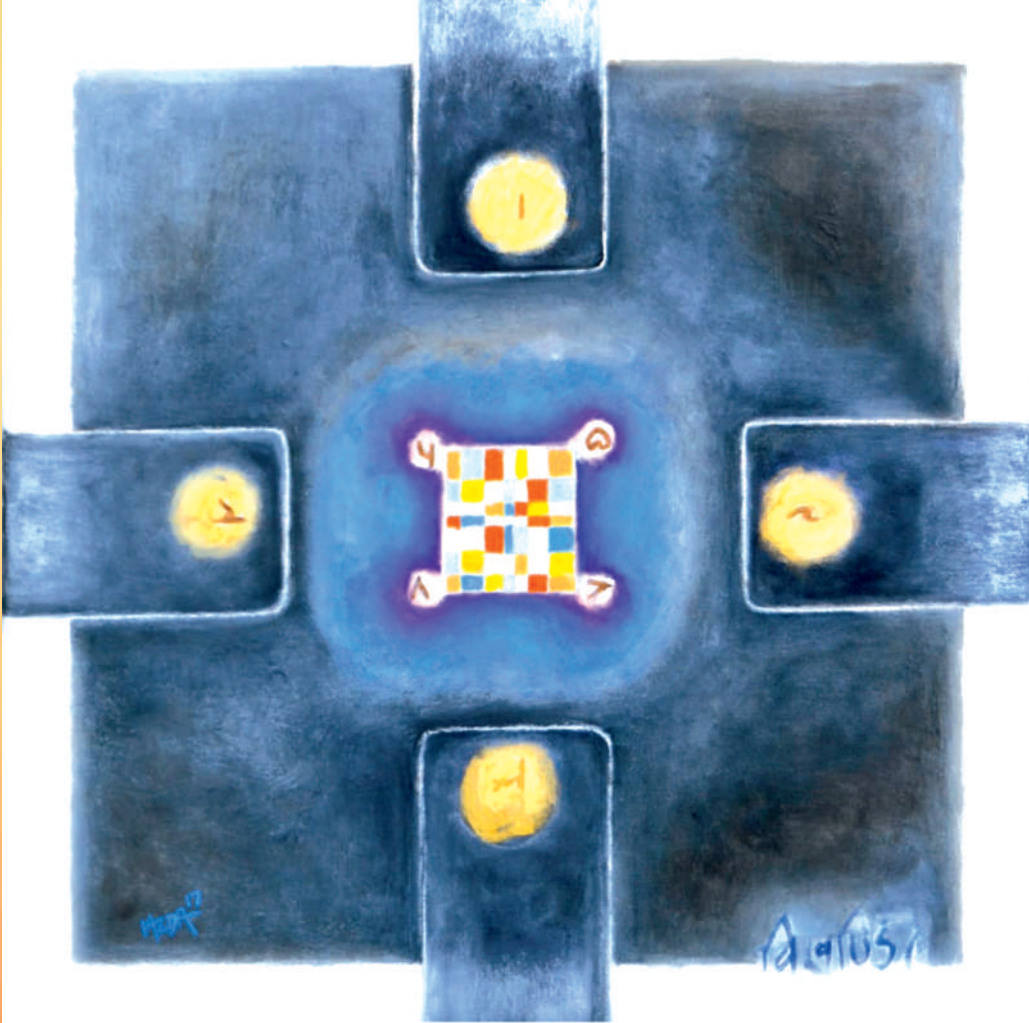
अगस्त 2020

₹ 22

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

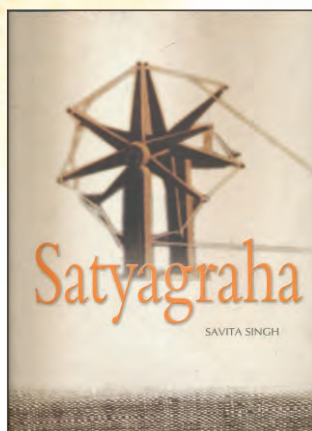
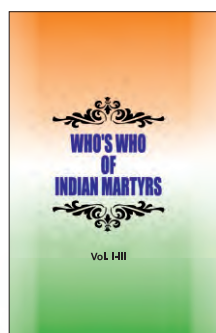
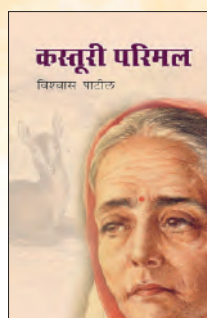
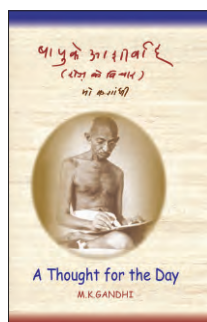
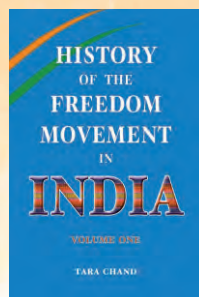
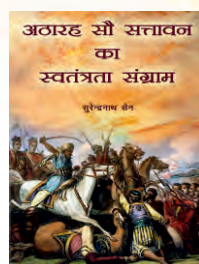
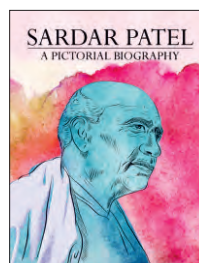
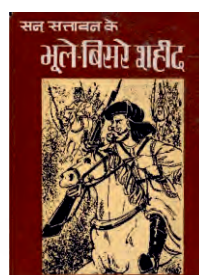
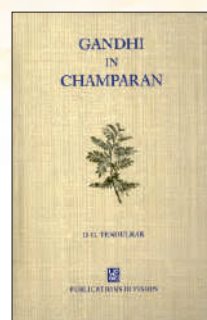
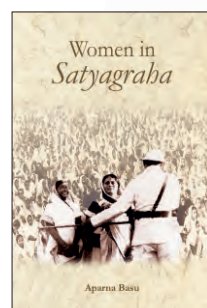
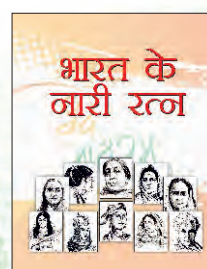
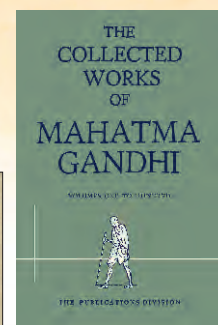
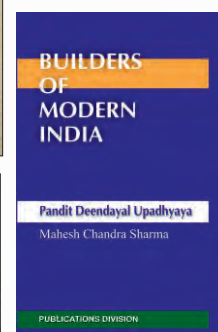
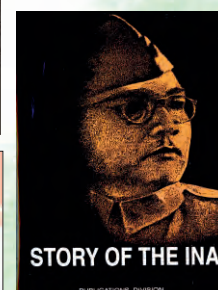
साहित्य और संस्कृति का मासिक



हिन्दी ग़ज़ल के सरोकार

जानिए देश का गौरवशाली इतिहास प्रकाशन विभाग की पुस्तकों से

चुनिदा ई-बुक
एमेज़ॉन और गूगल प्ले
पर उपलब्ध



प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली -110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

ऑर्डर के लिए संपर्क करें-

फोन : 011-24367260, 24365610, ई मेल : businesswng@gmail.com

हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं

द्विटर पर फॉलो करें [@DPD_India](https://twitter.com/DPD_India)

लेख		सात ग़ज़लें : नूर मुहम्मद नूर	32
हिन्दी ग़ज़ल के सरोकार : जीवन सिंह	6	छह ग़ज़लें : माधव कौशिक	33
हिन्दी ग़ज़लों का विकास और भविष्य : रामनिहाल गुंजन	9	चार ग़ज़लें : सुनील मिश्र	34
ग़ज़ल के गाँव में बाहरी आदमी : विजय बहादुर सिंह	13	पाँच ग़ज़लें : बल्ली सिंह चीमा	40
हिन्दी ग़ज़ल में युवा ग़ज़लकारों की उपस्थिति : ज्ञानप्रकाश विवेक	21	पाँच ग़ज़लें : अनिरुद्ध सिन्हा	41
समकालीन हिन्दी ग़ज़ल... : उमाशंकर सिंह परमार	25	चार ग़ज़लें : कमलेश भट्ट कमल	42
तराने जो अब भी गूँजते हैं : शंकर दयाल सिंह	28	पाँच ग़ज़लें : ऋषिकेश	43
हिन्दी काव्य में ग़ज़ल : ज़हीर कुरेशी	35	चार ग़ज़लें : सुरेंद्र विक्रम	44
		चार ग़ज़लें : अशोक अंजुम	47
साक्षात्कार		चार ग़ज़लें : भावना	48
लंबा सफ़र तय करना है : हृदयेश मयंक	37	छह ग़ज़लें : सौरभ शेखर	49
(सूर्यभानु गुप्त से बातचीत)		चार ग़ज़लें : भरत एस. तिवारी	50
		चार ग़ज़लें : विवेक मिश्र	51
शताब्दी स्मरण		दो ग़ज़लें : धर्मेन्द्र गुप्त 'साहिल'	51
'तीर्थोदक' : उभयनिष्ठ नज़र से : पल्लवी प्रसाद	45	श्रद्धांजलि	
		वीरान हो गई उर्दू जुबान और अदब की दुनिया : राजेंद्र शर्मा	39
ग़ज़लें		मूल्यांकन	
चार ग़ज़लें : रामदरश मिश्र	17	लोक में प्रेम के बीज रोपता कवि : नीरज कुमार मिश्र	52
चार ग़ज़लें : रामकुमार कृषक	18		
पाँच ग़ज़लें : विज्ञान व्रत	19	पुस्तक परिचय	
पाँच ग़ज़लें : राम मेश्राम	20	सात सुरों का मेला : रेमी कुमारी	54
तीन ग़ज़लें : योगेन्द्र दत्त शर्मा	30		
चार ग़ज़लें : डी.एम. मिश्र	31		

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 56

आजकल

स्थापित 1945

वर्ष : 76, अंक : 4

पूर्णांक : 909

अगस्त, 2020

श्रावण-भाद्रपद 1942

प्रधान संपादक

राकेशरेणु

संपादक

फरहत परवीन

संपादन सहयोग

शुभ्रा सिंह

आवरण : वाज़दा ख़ान

आवरण सज्जा : राजेश कुमार

संपादकीय पत्र व्यवहार :

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग

कमरा नं. 601डी, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड

नई दिल्ली-110003

फ़ोन : 2436 2915

ई.मेल : ajkalhindi@gmail.com

website :

www.publicationsdivision.nic.in

फेसबुक www.facebook.com/

publicationsdivision



उत्पादन अधिकारी

के. रामालिंगम

सदस्यता शुल्क :

वार्षिक : 230 रुपये

दो वर्ष : 430 रुपये

तीन वर्ष : 610 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :

व्यापार व्यवस्थापक

कमरा नं. 56, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड

नई दिल्ली-110003

फ़ोन नं. 011-24367453

ई-मेल : pdjucir@gmail.com

मुद्रक : जैना ऑफ़सेट प्रिंटर्स (उ.प्र.)

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, दूरभाष : 011-24367260, लखनऊ : हॉल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, कोलकाता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, पटना : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, मुंबई : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवी मुंबई, दूरभाष : 9522-27570686, बंगलुरु : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, अहमदाबाद : अखंडानंद हॉल, द्वारा पत्र सूचना कार्यालय, द्वितीय तल, सीएनआई चर्च के पास, मदन टेरेसा रोड, भद्र, दूरभाष : 079-26588669, हैदराबाद : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादि गुडा-500080, चेन्नई : राजाजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, तिरुअनंतपुरम : गवर्मेन्ट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650



कहानियाँ पसंद आई

‘आजकल’ मई, 2020 अंक वेबसाइट पर देखा। अंक की सभी सामग्री, पठनीय और सराहनीय है। ‘शताब्दी स्मरण’ स्तंभ में फणीश्वरनाथ रेणु को नंदकिशोर नंदन ने बड़ी आत्मीयता से याद किया है। अंक की तीनों कहानियाँ ‘तेरहवीं की दावत’ (सुधा गोयल), ‘जिंदगी के मायने’ (सुभाष शर्मा) और ‘घाघरिया घूमो रे’ ने विशेष प्रभावित किया।

—सुदर्शन सिंह, लखनऊ

सभी स्तंभ महत्वपूर्ण

‘आजकल’ मई, 2020 अंक ऑनलाइन देखा। ‘हिन्दी नाटकों में स्त्री’ (किरन तिवारी) और ‘रंग और दृश्य का तिलिस्म’ (रणजीत साहा) के लेखों ने कई रोचक और महत्वपूर्ण जानकारी दी। ‘तेरहवीं की दावत’ (सुधा गोयल) मन को छू गई। ‘मूल्यांकन’ स्तंभ के दोनों समीक्षात्मक लेख भी अति महत्वपूर्ण लगे। ‘पुस्तक परिचय’ स्तंभ के अंतर्गत भारत : 2020 कई जानकारियों से ओत-प्रोत लगा।

—महिमा सिंह, नई दिल्ली

प्रशंसनीय और सराहनीय

‘आजकल’ के मई, 2020 अंक में प्रवासी साहित्य की प्रमुख साहित्यकार सुषम बेदी से रेखा सेठी का साक्षात्कार कई जानकारी से परिपूर्ण लगा। प्रवासी लेखन और भारत के लेखकों की समस्याएँ, प्रवासी साहित्य के भविष्य आदि पर विशेष रोशनी

डाली गई है जो प्रशंसनीय है। ‘श्रद्धांजलि’ स्तंभ में पंजाबी की वरिष्ठ लेखिका दलीप कौर टिवाणा को बी.एस. रतन ने बहुत अच्छे ढंग से याद किया है और उनके लेखन पर भरपूर रोशनी डाली है।

—सरबजीत कौर, चंडीगढ़

सारगर्भित और महत्वपूर्ण

मई, 2020 अंक में फणीश्वरनाथ रेणु पर नंदकिशोर नंदन का लेख रेणुजी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर सम्यक रूप से प्रकाश डालता है। ‘बात करनी मुझे मुश्किल कभी ऐसी तो न थी’ लेख में गरिमा श्रीवास्तव के विचार सारगर्भित और महत्वपूर्ण लगे। अंक की तीनों कहानियाँ अच्छी लगीं। प्रवासी साहित्यकार सुषम बेदी से रेखा सेठी की बातचीत अविस्मरणीय है। ‘प्रसंगवश’ विशेष रूप से पठनीय है। ‘हिन्दी नाटक में स्त्री’ के माध्यम से किरन तिवारी ने भारत में स्त्रियों की स्थिति एवं समाज में उनकी भूमिका पर विस्तृत जानकारी दी है जो कि सराहनीय है।

—बलजीत सिंह, हरियाणा

विशद विचार मंथन

मई, 2020 अंक के लेख ‘बात करनी मुझे मुश्किल कभी ऐसी तो न थी’ में गरिमा श्रीवास्तव द्वारा विशद विचार-मंथन किया गया है जिसे पढ़कर आनंद आया। ‘भारतीय रंगमंच का बेहतरीन अदाकार’ में तुलसी रमण का मनोहर सिंह पर संस्मरण विशेष रूप से सम्मोहित करने वाला है। इसी अंक में ‘औरत की पीड़ा और संताप की लेखिका’ शीर्षक आलेख में बी.एस. रतन ने पंजाबी की सुप्रसिद्ध लेखिका दलीप कौर टिवाणा को श्रद्धांजलि स्वरूप याद किया है, वह अति सराहनीय है।

—मनोज श्रीवास्तव, प्रयागराज

भगीरथ प्रयास

‘आजकल’ का मई, 2020 अंक ऑनलाइन पढ़ा। 1945 से निरंतर प्रकाशित साहित्य और संस्कृति की मासिक पत्रिका का भगीरथ

प्रयास प्रशंसनीय है। ‘भारतीय रंगमंच का बेनज़ीर अदाकार’ तुलसी रमण द्वारा मनोहर सिंह पर संस्मरण सार्थक, ज्ञानवर्धक लगा। सुषम बेदी से रेखा सेठी की बातचीत अच्छी लगी। नंदकिशोर नंदन ने ‘वह आग कहाँ है’ आलेख में फणीश्वरनाथ रेणु के कृतित्व पर सार्थक विमर्श प्रस्तुत किया है।

—विजय सिंह, गाज़ियाबाद

मर्मस्पर्शी कहानी

कई वर्षों से ‘आजकल’ पत्रिका से जुड़ा हूँ। मुझे खुशी है कि अब भी इस पत्रिका की विशिष्टता बनी हुई है। मई, 2020 अंक की लगभग सभी सामग्री ने प्रभावित किया। प्रवासी साहित्यकार सुषम बेदी से रेखा सेठी के साक्षात्कार ने कई जानकारी से अवगत कराया। पंजाबी साहित्यकार दलीप कौर टिवाणा पर आलेख मन को छू गया। ‘घाघरिया घूमो रे...’ रूपा सिंह की कहानी ने विशेष प्रभावित किया। कहानी का अंत मर्मस्पर्शी है। सुप्रसिद्ध चरित्र अभिनेता मनोहर सिंह को तुलसी रमण ने बड़ी ही रोचकता और गहराई से याद किया है। देवेंद्र चौबे, संदीप नाईक और ओम नागर की कविताओं ने समाज की वास्तविकता से रूबरू कराया है।

—संगीता उपाध्याय, नई दिल्ली

प्रभावित किया

‘आजकल’ मई 2020 अंक ऑनलाइन पढ़ा। पढ़कर अपनी प्रतिक्रिया दिए बगैर न रह सका। इस अंक की संदीप नाईक और अतुल चतुर्वेदी की कविताओं और सुभाष शर्मा की कहानी ‘जिंदगी के मायने ने विशेष प्रभावित किया। शताब्दी संस्मरण स्तंभ द्वारा नन्दकिशोर नंदन ने कालजयी साहित्यकार फणीश्वरनाथ रेणु के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तृत जानकारी दी है। उन्हें साधुवाद!

—अफ़रोज आलम, नई दिल्ली

प्रसंगवश

ग़ज़ल भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति की देन है। भारतीय समाज की तरह इसकी प्रकृति साहचर्य और सामाजिकता का बोध कराने वाली है— सहभागिता का, सह-अस्तित्व का, सहधर्म का बोध कराने वाली। ग़ज़ल हिन्दी और उर्दू की निकटता का, अंतरंगता का, उनके एक होने का बोध भी कराती है। यह बताती है कि लिपियों का अंतर होने के बावजूद इन भाषिक समूहों की अनुभूतियों का क्षेत्र, उनके सुख-दुख और प्रयोक्ता समाजों का जीवन व कार्य-व्यवहार एक है। अरबी-फ़ारसी से उर्दू के रास्ते हिन्दी में आई ग़ज़ल केवल भाषिक सामासिकता का ही बोध नहीं कराती बल्कि विधाओं के स्तर पर भी विभिन्न कला रूपों का संगम बनकर प्रस्तुत होती है। अपने इस स्वरूप की वजह से यह अपने उद्गम स्थल-अरबी और फ़ारसी की ग़ज़लों से अलग हो जाती है।

भारत में ग़ज़ल के प्रणेता के तौर पर अमीर खुसरो को याद किया जाता है। खुसरो न केवल सूफ़ी कवि थे बल्कि संगीत के भी मर्मज्ञ और बड़े ज्ञाता थे। उन्हें सितार सहित कई भारतीय वाद्य यंत्र देने का श्रेय हासिल है। संगीत और शायरी में अपनी इस सूफ़ियाना रुचि की वजह से उन्होंने ग़ज़ल और संगीत का तालमेल कराया। भारत में ग़ज़लें संगीत के मार्फ़त लोकप्रिय हुईं। आज भी क़व्वालियों में संगीत के साथ ग़ज़लें पेश करने का चलन ख़त्म नहीं हुआ है। ऐसा इसके मूल उद्गम स्थल पर नहीं हुआ था। भारत में ग़ज़लों की यह विशेष प्रकृति उसे अलग, अनूठा सामासिक-सांस्कृतिक उपादान बनाती है जो केवल धार्मिक समरसता की बुनियाद ही ठोस नहीं करता, वरन् सांस्कृतिक और कलागत एका का मज़बूत आधार भी तैयार करता है।

हिन्दी ग़ज़ल की शुरुआत उर्दू से हुई। यों तो भाषा के स्तर पर हिन्दी और उर्दू को अलग करके देखने की प्रवृत्ति ही मुश्किलों की जड़ बनी और इससे अनेक उलझनें पैदा हुई हैं। इसलिए ग़ज़लों को हिन्दी और उर्दू के भाषायी ख़ाने में बाँटना बहुत उचित नहीं लगता। रचनाकार जब ग़ज़ल या किसी भी विधा की रचना कर रहा होता है तो वहाँ स्वाभाविक रूप से फ़िट बैठने वाले शब्द स्वतः आते-जाते हैं। वे रचनाकार की भाषिक स्मृति में शामिल किसी भी भाषा के हो सकते हैं। इसलिए न केवल ग़ज़ल, बल्कि किसी भी सर्जनात्मक विधा के लिए इस तरह के भाषायी विवाद का बहुत महत्व नहीं है। भाषा एक माध्यम है अपनी बात कहने का, वह प्रतिपाद्य नहीं।

एक स्वतंत्र विधा के तौर पर हिन्दी ग़ज़ल का अब तक का सफ़र एक सदी से भी छोटा है। माना जाता है कि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला से इसकी शुरुआत हुई हालाँकि उनसे काफ़ी पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि ने भी ग़ज़लों में हाथ आजमाया किंतु जल्दी ही इससे विमुख भी हो गए जबकि निराला का गीत-ग़ज़ल संग्रह 'बेला' नाम से सन् 1943 में प्रकाशित हुआ और उनकी ग़ज़लें अपनी अर्थ-सामर्थ्य की वजह से आज भी दोहराई जाती हैं। लेकिन जिस रूप में यह अभी है, एक सामाजिक-राजनैतिक हस्तक्षेप के रूप में, एक प्रतिवाद के रूप में, न केवल फ़लसफ़ाई स्तर पर बल्कि जीवन के इर्द-गिर्द हर तरफ़ बिखरी घटनाओं के स्तर पर, वह स्वरूप हिन्दी ग़ज़ल ने स्वातंत्र्योत्तर काल में ही अख़्तियार किया है। देश की औपनिवेशिक शासन से मुक्ति की बदौलत समाज के विभिन्न वर्गों में एक नई उमंग पैदा हुई थी। लोगों ने सुखद भविष्य के सपने देखे लेकिन उन सपनों को टूटते देर न लगी। न केवल मध्य वर्ग बल्कि खेती-किसानी करने वाले लोगों और मज़दूरों-कामगारों का भी मोहभंग हुआ। हिन्दी ग़ज़लें प्रभावी रूप से इस हलचल और बेचैनी को व्यक्त कर रही थीं। न केवल दुष्यंत कुमार बल्कि उनके साथ-साथ लेखनरत शलभ श्रीराम सिंह और त्रिलोचन भी सशक्त रूप से यह सब अपने अशआर में अभिव्यक्त कर रहे थे। दुष्यंत कुमार इन परिवर्तनों को कहीं ज़्यादा प्रभावी रूप से पकड़ रहे थे। इसलिए उनकी ग़ज़लें हिन्दी में आज जो ग़ज़लें लिखी जा रही हैं, उनका प्रस्थान बिंदु बनी।

उर्दू शायरी के दानिशमंद हिन्दी ग़ज़लों से भी उसी काव्य-सौष्ठव की माँग करते हैं जो तीन सदी पुरानी उर्दू ग़ज़लों की रवायत रही है लेकिन हिन्दी ग़ज़लों ने अल्पकाल में ही अंतर्वस्तु के स्तर पर ऊँची उड़ान भरी है और प्रेम व रोमान को पीछे छोड़ ज़िंदगी की तमामतर उलझनों, मुश्किलात और अनुभवों को अभिव्यक्त किया है, कर रही हैं। दुष्यंत के बाद के ग़ज़लकार अदम गोडवी और उनके बाद के रामकुमार कृषक, बल्लू सिंह चीमा आदि इसे शहरी मध्यवर्ग से निकालकर गाँवों-खेतों-ढाणियों तक ले गए हैं। उनकी ग़ज़लों में किसानों, मज़दूरों, कारीगरों के अनुभव पर बल है न कि दरबारी ग़ज़लों के रोमान और काव्य-सौष्ठव पर। हिन्दी ग़ज़लों ने अपने लिए यही राह चुनी है।

स्वाधीनता की 73वीं वर्षगाँठ के अवसर पर प्रसारित 'आजकल' का प्रस्तुत अंक हिन्दी ग़ज़ल की इसी छोटी किंतु जीवनानुभव से पगी परंपरा पर दृष्टिपात करता है। हमारी इच्छा थी कि इस परंपरा से जुड़े सभी महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों को यहाँ शामिल करें लेकिन एक अंक की सीमा में ऐसा करना संभव नहीं है। बहुत-से महत्वपूर्ण नाम छूट गए हैं, जिन्हें यदि इस अंक में शामिल कर पाता तो कहीं अधिक खुशी होती। अपनी सीमाओं के बावजूद इस अंक में शामिल लेखों में जहाँ हमने ग़ज़ल परंपरा के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में हिन्दी ग़ज़लों के विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात करने की कोशिश की है, वहीं आज सक्रिय अलग-अलग पीढ़ियों के और अलग-अलग भावभूमि वाली ग़ज़लों को प्रतिनिधित्व देने की चेष्टा भी की है। हमारे लिए यह भी सुखद है कि कोविड-19 महामारी के कारण तीन महीने तक ऑनलाइन प्रकाशित होने के बाद 'आजकल' का यह अंक पूर्व की भाँति मुद्रित होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत है। अंक पर आपकी सधी हुई टिप्पणी की प्रतीक्षा रहेगी।

हिन्दी ग़ज़ल के सरोकार

जीवन सिंह



सुपरिचित आलोचक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। 'शब्द और संस्कृति' तथा 'कविता और कवि कर्म' प्रसिद्ध पुस्तकें। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

ग़ज़ल एक ऐसा अरबी-फ़ारसी काव्य रूप है जो 13वीं-14वीं सदियों से अरबी, तुर्की और ख़ासतौर से फ़ारसी भाषियों के हिन्दी भाषियों से संपर्क और साहचर्य में आने से हिंदुस्तानी भाषाओं, विशेषकर हिन्दी में इसका समावेश हुआ, जो हिन्द से संबंधित होने के कारण 'हिन्दवी', बाद में 'रेख्ता' कहलाई जाने लगी, वही आगे चलकर 'उर्दू' कहलाई। हिन्दी में ग़ज़ल का आना हिन्दी और उर्दू की दीर्घकालीन समीपता और साहचर्य का परिणाम है जिनमें भिन्नता और एकता का द्वंद्वत्मक रिश्ता आज तक मौजूद है। इस काव्य-रूप की अंतर्वस्तु की सबसे बड़ी ख़ासियत इसकी सामासिकता है। इसने भारत में आकर एक नई सामासिक संस्कृति को विकसित करने का महत्वपूर्ण काम किया। सबसे बड़ा और महत्व का काम इसने यहाँ के हिन्दू-मुसलमानों के हृदयों को मिलाने का किया जिसे मशहूर कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'संस्कृति का दूसरा अध्याय' कहा है। इसकी शुरुआत अमीर खुसरो से होती है, जिन्होंने एक बड़े सांस्कृतिक प्रणेता की भूमिका निभाई।

माना जाता है कि हिंदुस्तान में ग़ज़ल की शुरुआत करने वाले अमीर खुसरो ही थे, जो तेरहवीं सदी के बीच में भारत के ब्रज जनपद के एक गाँव में पैदा हुए थे। ये एक शायर और संगीतकार दोनों थे और निज़ामुद्दीन औलिया के चहेते शागिर्द भी। इस तरह से ग़ज़ल यहाँ संगीत और साहित्य की एक मिली-जुली विधा के रूप में विकसित हुई।

अरब में इसकी पैदाइश सामान्य वर्ग की कला के रूप में हुई मानी जाती है। इसके बाद वह दरबारों का हिस्सा भी हुई लेकिन सूफ़ी क्रव्वालियों में आमजन का हिस्सा भी बनी रही। यही उत्तर भारत में एक नई मिली-जुली भाषा में हिन्दवी या रेख्ता के नाम से सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों के पूर्वार्ध तक चलती रही। यही जब उत्तर के मुस्लिम शासकों के साथ दक्षिण में गई तब इसे वहाँ के नए दरबारों में एक नई काव्य-भाषा का दर्जा हासिल हुआ। तब वहाँ वली दकनी के नाम से मशहूर शायर ने पहली बार इसको प्रेम और इंसानियत का नया रंग प्रदान किया जिससे हिन्दू-मुसलमानों के हृदय एक-दूसरे के पास आ सकें। इन्होंने ग़ज़ल के नए रूप को अपनाकर चिंतन और भावना के स्तर पर जो एक नवीन उदारतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया उसका व्यापक प्रभाव हुआ। इनकी विविध आयामी शायरी में धीरे-धीरे ऐसे जन-सरोकार भी आते गए जिनका संबंध यहाँ की उत्पीड़ित

ग़रीब जनता से होता था। इनके बाद अठारहवीं सदी में बड़े शायर मीर हुए और उन्नीसवीं में ग़ालिब।

इनके अलावा भी उर्दू में तीन सौ साल से भी लंबी ग़ज़लकार शायरों की एक समृद्ध परंपरा मिलती है जिसका विस्तार से यहाँ उल्लेख करना न तो ज़रूरी नहीं है और न ही हमारा ऐसा कोई मक़सद है। मतलब यहाँ सिर्फ़ इतना ही है कि हिन्दी ग़ज़ल के पीछे उर्दू ग़ज़ल की प्रेरणा और उसकी परंपरा की ताक़त हिन्दी ग़ज़ल को भी प्राप्त है। यानी जब-जब हिन्दी ग़ज़ल की चर्चा होगी तब-तब उर्दू ग़ज़ल से उसका गहरा नाता भी व्यक्त होगा। इसकी वजह यह भी है कि कभी उर्दू, हिन्दी के नज़दीक आ जाती है तो कभी हिन्दी, उर्दू के पास चली जाती है। एक ज़माना ऐसा भी था जब ये दोनों एक-दूसरे में समाई हुई थीं।

हिन्दी में ग़ज़ल की बाक्रायदा शुरुआत बीसवीं सदी में महाप्राण निराला से होती है। हिन्दी का पदविन्यास और हिन्दी इलाक़े के ज़मीनी जन-सरोकार पहली बार उनकी ग़ज़लों में आते हैं। निराला के विषय में इस तथ्य को सभी जानते हैं कि उनमें अंतर्वस्तु और काव्य-रूप दोनों स्तरों पर सर्वाधिक नवीनता और प्रयोगशीलता मिलती है। काव्य-रूपों के नए-नए प्रयोग अपने समय में जितना निराला करते हैं उतना शायद ही उस समय का कोई अन्य कवि कर पाया हो। इसी प्रक्रिया में वे कविता की अंतर्वस्तु को भी ज़मीनी स्तर तक पहुँचा देते हैं। इसी प्रयोग-क्रम में उन्होंने ग़ज़ल जैसे नए काव्य-रूप को भी अपनाया और आजमाया। 1943 ई. में निराला का एक गीत-ग़ज़ल संग्रह 'बेला' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, इसकी ख़ासियत यह है कि इसमें गीतों के साथ उनकी ग़ज़लें भी हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि निराला के लिए कविता और संगीत एक-दूसरे से बहुत नज़दीक की कलाएँ हैं।

ग़ज़ल भी गीत की तरह से काव्य की एक संगीतात्मक विधा है। कौन नहीं जानता कि निराला अपने गीतों को हार्मोनियम पर भी गा लेते थे। इस वजह से उन्होंने गीतों के साथ अपनी ग़ज़लों को रखा है तो यह कहीं से भी ग़लत नहीं है लेकिन उनकी विशेषता इस बात में है कि ग़ज़ल को भी उन्होंने अपनी कविताओं की तरह से हिन्दी के मुहावरे में अपने ज़माने के सुख-दुखों से जोड़कर प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं उन्होंने ग़ज़ल को अपनी कविताओं की तरह ज़मीनी अनुभूतियों और उनमें निहित सच से भी जोड़ा। सबसे मुश्किल होता है जीवन के बुनियादी सच तक पहुँचना।

जिंदगी के सतही बाहरी सचों को उजागर करने वाले शायरों की दुनिया में कमी नहीं है, कमी है बुनियादी सच को समझकर ढूँढ़ निकालने की। निराला इस काम को कविता के अन्य रूपों के साथ ग़ज़ल में भी करते हैं। इसलिए हिन्दी में ग़ज़ल की शुरुआत करने का श्रेय भी उनको ही जाता है। मसलन काव्य-रसिकों की जुबान पर चढ़ा हुआ उनका एक मशहूर शेर है—

खुला भेद विजयी कहाए हुए जो
लहू दूसरे का पिए जा रहे हैं।

यह ग़ज़ल की दुनिया में एक बड़ा बदलाव है जिसमें निराला बतलाते हैं कि दुनिया में आज वही व्यक्ति विजयी है और सफल भी जिसको दूसरों का खून पीने का अभ्यास रहा है अर्थात् जो व्यक्ति किसी अन्य का रक्तपान करने की सामर्थ्य नहीं रखता, वह विजयी नहीं हो सकता। आज किसी को लूटे बिना शायद ही कोई सिर्फ़ अपनी मेहनत से जिंदगी में विजयी और सफल हो पाए। यह उन साम्राज्यवादी-सामंतवादी और व्यक्तिवादियों की जिंदगी को देखकर प्राप्त किया हुआ सत्य था, जिसे सामान्य कवि-शायर की नज़र शायद ही देख पाती थी। यह भी निराला ही लिख सकते थे कि स्वाधीनता आंदोलन के चलते हुए धीरे-धीरे साम्राज्यवादी शक्ति के प्रतीक गोरे अंग्रेज़ और स्वाधीनता आंदोलन के थके हुए साँवले नेताओं की पटरी आपस में बैठती जा रही थी, जिसकी तरफ़ प्रेमचंद अपने 'ग़बन' उपन्यास में साफ़-साफ़ इशारा कर चुके थे। इसी तरफ़ निराला भी साफ़-साफ़ इशारा अपनी एक ग़ज़ल के शेर में कर रहे हैं—

आया मज़ा कि लाखों आँखों में दम घुटा है
पटरी है बैठने को गोरे की साँवले से।

हिन्दी ग़ज़ल के इसी रूप ने आगे चलकर उसको विकसित किया। वह व्यक्ति के असंतोष को व्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनती चली गई। दरअसल, हिन्दी में ग़ज़ल तब आई जब हमारे यहाँ साम्राज्यवाद और सामंतवाद से मुक्ति के लिए तरह-तरह के वैचारिक संघर्ष और आंदोलन चले और जब व्यक्ति न केवल राजनीति की चालों के प्रति जागरूक हुआ वरन् उनको पहचानने भी लगा, जब वह प्रेम की वायवीय मुद्राओं और उसकी आभिजातिकता तथा तथाकथित अध्यात्म से मुक्त होकर इस संसार के ठोस सवाल से रूबरू होने लगा। निराला के ग़ज़ल-संसार की यह खास बात है कि ग़ज़ल के माध्यम से उनके यहाँ जिंदगी के बुनियादी सवाल आ रहे हैं। 'बेला' संग्रह में संकलित एक ग़ज़ल के मतले में निराला कहते हैं, "संकोच को विस्तार दिए जा रहा हूँ मैं।" यह विस्तार ही है। जो ग़ज़ल को जनोन्मुखता प्रदान करता है। ऐसा वे तब लिख रहे थे जब देश को आज़ादी मिलना यानी यहाँ से अंग्रेज़ी औपनिवेशिक सत्ता का जाना लगभग तय हो गया था। तब उन्होंने यह भी लिखा था— "उगी खेती लहराई, हवा और बदली है / मिले बढ़े चलें ऐसा विचार लाएंगी।" इस तरह से निराला की ग़ज़ल का प्रस्थान बिंदु मुक्ति की कामना लिए हुए है और यह मुक्ति उसके लिए भी है जिसके श्रम से खेती लहराती है। इतना ही नहीं, वे यहीं पर कविता को एक नई सौंदर्य भूमि पर भी अवस्थित करते हैं— 'छाए आकाश में' शीर्षक से लिखी ग़ज़ल में वे लिखते हैं—

किसान खेतों में, लड़के अखाड़ों में आए
बारहमासी गाती हुई लड़कियों के दल देखे।

जीवन के ऐसे छवि-चित्र भी वे ग़ज़ल में बनाते हैं। यह उनका नया सौंदर्यबोध है जिसका आगे की कविता में विकास हुआ लेकिन ग़ज़ल में यह ज़्यादा नहीं हो पाया। वैसे कोई-न-कोई जन-सरोकार हर कवि या शायर के पास होता है लेकिन देखने की

बात यह है कि वह कितना बुनियादी और कितना मध्यवर्गीय है।

भारत में अंग्रेज़ी राज के स्थापित होने के लगभग दो सौ सालों में यहाँ न केवल एक देशी पूँजीपति वर्ग वरन् उनका सहायक मध्यवर्ग भी पैदा हो गया था जो अंग्रेज़ी शासन से तुष्ट भी था और असंतुष्ट भी। इसी वर्ग में से स्वाधीनता बोध को जगाने वाला और उसके लिए लड़ने वाला वर्ग पैदा हुआ था। साहित्य-सृजन भी यही वर्ग किया करता था। यही अख़बार निकालता और उनमें लिखा करता था। इस वजह से साहित्य में भी ज़्यादातर मध्यवर्ग की सीमाओं में जो लिखा-कहा जा सकता था, वही आता था। इसी की अभिरुचियाँ और संस्कार उसमें व्यक्त होते थे। ऐसे साहित्यकार बहुत कम थे जो साहित्य को निम्न मेहनतकश वर्ग अर्थात् किसानों और श्रमिकों के जीवन से जोड़कर देखते थे। जो काम कथा साहित्य में प्रेमचंद कर रहे थे, निराला ने अपने परवर्ती समय में उसी तरह के सृजनात्मक काम को करने का प्रयास किया। इसी अवधि में वे ग़ज़ल भी लिखने लगे थे। ग़ज़ल की एक खासियत और थी कि उसमें मीर-ग़ालिब की तरह बहुत गंभीर भी कहा जा सकता था और उसकी तुलना में मंचों के माध्यम से कहा-सुना जाने वाला प्रसाद गुणसंपन्न भी। यही कारण है कि ग़ज़ल सभी जीवन-स्तरों के लिए एक अनुकूल काव्य रूप था। उसकी इसी ताक़त को जानकर प्रसादजी जैसे शास्त्रीय रचनाकार ने भी ग़ज़ल पर हाथ आजमाया। निराला के बाद जानकी वल्लभ शास्त्री ने भी ग़ज़लें लिखीं किंतु वे उनको पढ़े-लिखे वर्ग की जीवनानुभूतियों से आगे नहीं ले जा पाए। यह काम बलवीर सिंह रंग ने किया जो अभावग्रस्तों-असहायों की तरफ़ से ग़ज़ल में बोलते हैं—

तुम सबल संभावनाओं के अलंबरदार लेकिन

हम अभावों में पले हैं, आपको आपत्ति क्या है।

ग़ज़ल में रंगजी की यही पक्षधरता और प्रश्नवाचकता हिन्दी ग़ज़ल के रूपविधान में संवादात्मकता के सहज लहजे को जोड़ती है। रदीफ़ की सटीकता, नवीनता और संवादपरकता में वे अकेले, बेजोड़ और निराले हैं। सच कहा जाए तो ग़ज़ल टिकी ही रदीफ़ पर होती है। जीवन की जो ध्वनि यहाँ से निकलती है उसी से पता चल जाता है कि ग़ज़लकार कितने पानी में है। हिन्दी की सहजता और उसकी ठसक दोनों ही रंगजी के यहाँ मौजूद हैं। ऐसा रूप-विधान भी तभी आ पाता है जब शायर जिंदगी को बुनियाद से अपने संपर्क को नहीं छोड़ता। जन-सरोकार की दृष्टि से त्रिलोचन की भूमिका पर जब हम नज़र डालते हैं तो वहाँ उसका विस्तार मिलता है। 'बिस्तरा है न चारपाई है / जिंदगी खूब हमने पाई है', जैसा शेर कहने वाले त्रिलोचन ने ग़ज़ल जैसे काव्य-रूप को मन से अपनाया है। इनके बाद शमशेर ने भी उर्दू और हिन्दी दोनों को मिलाकर लिखा है लेकिन जब वे अपनी मस्ती में आते हैं तो ठेठ जन-सरोकारों की अमूल्य गठरी को खोलकर रख देते हैं। मसलन उनकी एक ग़ज़ल बहुत लोकप्रिय हुई—

राह तो एक थी हम दोनों की, आप किधर से आए-गए

हम जो लुट गए, पिट गए, आप जो राज भवन में पाए गए
किस लीला युग में आ पहुँचे अपनी सदी के अंत में हम
नेता जैसे घास-फूस के रावण खड़े कराए गए।

इसके बाद शलभ श्रीराम सिंह ने हिन्दी और उर्दू को जोड़कर हिंदुस्तानी ग़ज़ल के पैटर्न को अपनाया, जिसमें उनका झुकाव हिन्दी की तरफ़ रहा और जिंदगी के उन सवालों की तरफ़ जो हिंदुस्तान के मेहनतकश की संस्कृति की आधारभूमि के निर्माण का काम करते हैं। यह देश को आज़ादी मिल जाने के बाद का समय था जिसमें धीरे-धीरे मध्यवर्गीय असंतोष का भाव जन्म

लेने लगता है क्योंकि जिन उद्देश्यों के लिए आजादी प्राप्त हुई थी उनकी पूर्ति होने की बजाय बहुत तेजी से वर्ग-विभाजन और विषमता की खाई पैदा हो रही थी। प्रगति भी हो रही थी किंतु उनके साथ विषमता और नैतिक मूल्यों का क्षरण भी हो रहा था। पुराने सामंती रिश्ते भी अपनी जगह पर कायम थे जिससे अधिकार संपन्न लोगों को ही ज्यादा लाभ मिल रहा था। इसमें सबसे ज्यादा नुकसान में खेती करने वाला किसान और खेतिहर मजदूर वर्ग था। यद्यपि नए औद्योगिकीकरण से शहरों का विकास और उनमें एक नए मध्य वर्ग का तेजी से उदय हो रहा था। भू-आंदोलन पिछली सदी के आठवें दशक में युवा आंदोलन में बदल गया। इन परिस्थितियों में हिन्दी में एक नई ग़ज़ल ने जन्म लिया जिसके व्यंजनात्मक तेवर में राजनैतिक मूल्य-पतन के प्रति क्षोभ और बेचैनी का इज़हार खासतौर से जाहिर हुआ।

इसी वातावरण में से दुष्यंत कुमार जैसा एक नया ग़ज़लकार पैदा हुआ जिसकी ग़ज़लों ने मध्य वर्ग के असंतोष और आक्रोश को वाणी प्रदान की और उनकी ग़ज़लों के अशआर आम मध्य वर्ग के कंठों पर बहुत जल्दी चढ़ भी गए। एक नई खुशबू इन ग़ज़लों में महसूस हुई और वह अंदाज़ भी जो आमतौर पर ग़ज़ल का अंदाज़ होता है। दुष्यंत कुमार के इस अंदाज़ का सम्मोहनकारी प्रभाव मध्यवर्गीय पाठक-श्रोता पर हुआ। यह दरअसल समकालीन ग़ज़ल का न केवल प्रस्थान बिंदु है वरन् उसकी एक नई आधारभूमि भी है जो ग़ज़ल के आंतरिक स्वभाव में तबदीली कर उसे व्यक्ति की लोकतांत्रिक चेतना और विवेक से जोड़ देती है। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में राजनैतिक अंतर्विरोधों और विसंगतियों पर ग़ज़ल के रूप में लिखने वालों की बाढ़-सी आ गई लेकिन वह दुष्यंत कुमार के मध्यवर्गीय असंतोष का ही तरह-तरह से फैलाव करती रही। चूँकि दुष्यंत कुमार की ग़ज़ल की आधारभूमि एक प्रत्यक्ष राजनैतिक आंदोलन और उसके प्रति बेहद ईमानदारी से उपजा क्षोभ था, इसलिए उसमें असंतोष और बेचैनी की एक वास्तविकता की ताक़त थी।

आगे चलकर जो नया मध्यवर्गीय ग़ज़लकार आया उसकी ग़ज़ल में अंतर्वस्तु से ज्यादा रूपविधान का सौंदर्य था। उसमें शिल्प से अंदाज़ पैदा करने की ईमानदार कोशिश थी किंतु जिस आंदोलनकारी समय से दुष्यंत की ग़ज़ल पैदा हुई थी वह गायब था। दरअसल उसे ज़रूरत थी नए जन-सरोकारों की एक नई आधारभूमि की। एक ऐसी आधारभूमि की जो जीवनानुभूतियों की वास्तविकता लिए हुए हो अर्थात् जो किताब और ख़बरें पढ़कर पैदा हुई संवेदनशीलता न हो।

जिसमें जीवन के बुनियादी जन-सरोकार हों और जो इस मामले में मध्यवर्गीय जन-सरोकारों का अतिक्रमण कर चुकी हो। ग़ज़ल को इस नई भूमि पर लाने वाला एक किसानी नाम सामने आया अदम गोंडवी का, जो ग़ज़ल को मध्यवर्गीय शहरी आवासों से निकालकर गाँवों की झोपड़ियों और किसानों के घरों में ले गया। दुष्यंत और अदम के बीच में हिन्दी ग़ज़लकारों की एक समृद्ध कड़ी मौजूद है लेकिन वह ग़ज़ल को मध्यवर्ग की संकीर्ण और सिकुड़ी हुई भूमि पर ही अपने शैल्पिक अंदाज़ में घुमाने का काम ज्यादा करती है। शिल्प-संरचना और नवीन कल्पनाओं की दृष्टि से दुष्यंत की परंपरा में आने वाले इन ग़ज़लकारों की महत्वपूर्ण भूमिका है किंतु जन-सरोकारों के मामले में वह मध्यवर्गीय जन-सरोकारों की गिरफ़्त से बाहर नहीं निकल पाती। वह उन बुनियादी जीवन-सरोकारों तक ग़ज़ल को नहीं ला पाते

जहाँ अदम उसको लेकर आ जाते हैं। इसके बावजूद ये मध्यवर्गीय ग़ज़लकार ग़ज़ल को नए-नए अंदाज़ देते हैं, उसको नया शिल्प देते हैं। इन ग़ज़लकारों में गोपालदास नीरज, सूर्यभानु गुप्त, भवानी शंकर, ज्ञानप्रकाश विवेक, देवेन्द्र आर्य, हरeram समीप, ज़हीर कुरेशी, इंदु श्रीवास्तव, सुल्तान अहमद, माधव मधुकर, महेश अशक, शेरजंग गर्ग, वशिष्ठ अनूप, माधव कौशिक, हस्तीमल हस्ती, विज्ञान व्रत, कमलेश भट्ट कमल, ओम प्रकाश यती, कुमार विनोद, विनय मिश्र, मृदुला अरुण, पुरुषोत्तम प्रतीक, सुरेंद्र श्लेष, रामनारायण स्वामी, अशोक अंजुम, वर्षा सिंह, गोपाल गर्ग, सुरेंद्र चतुर्वेदी, दिनेश सिंदल आदि ऐसे अनेक नाम हैं जिन्होंने ग़ज़ल को मध्यवर्गीय संवेदनशीलता के दायरे में खूब बरता है। इससे स्पष्ट है कि ग़ज़ल जैसी एक सामासिक विधा को माध्यम बनाकर हिन्दी कवियों ने अपने समय को तरह-तरह से दर्ज करने की कोशिश की है। इस सीमा का अतिक्रमण किया अदम गोंडवी ने, जो ग़ज़ल को अदबी इदारों से बाहर निकालकर गाँव के दिलकश नज़ारों में ले गए। उन्होंने अपनी एक ग़ज़ल के मतले में ही कहा,

‘ग़ज़ल को ले चलो अब गाँव के दिलकश नज़ारों में
मुसलसल फ़न का दम घुटता है इन अदबी इदारों में।’

सवाल उठता है कि वह क्या बात थी जो अदबी इदारों में ग़ज़ल का दम घोट रही थी? वह बात थी मध्य वर्ग के जीवन तक सीमित जीवनानुभूतियों के घेरे से ग़ज़ल को बाहर न निकाल पाना। एक समय था जब यही मध्य वर्ग ग़ज़ल को दरबारों से बाहर ज़िंदगी के खुले मैदानों में लाया था। अलबत्ता जन-सरोकार मध्यवर्गीय जीवनानुभूतियों के दायरे में भी आते हैं किंतु इस वर्ग की सीमा यह है कि यह वर्ग अपनी आजादी के लिए तो बात करता है किंतु इसके जीवनानुभवों में उस वर्ग की आजादी के सवाल नहीं आ पाते जो अपनी मेहनत से रोटी, कपड़ा, मकान जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं जुटा पाते। यह वर्ग स्वाधीनता की जितनी बात करता है उतनी समानता की नहीं, जिसकी वजह से हमारे यहाँ मेहनतकश वर्ग के साथ स्त्री और दलित वर्ग के लिए समानता और बंधुत्व के सवाल काव्य-संस्कृति और हमारे व्यापक जीवन-मूल्यों का हिस्सा नहीं बन पाते। अदम गोंडवी ग़ज़ल को इस दिशा में लाकर उसे एक नई धरती और नए आकाश की नई दुनिया में लाते हैं जहाँ नए जन-सरोकारों का एक खुला आकाश मिलता है। खुशी की बात यह है कि जीवन के इस नए क्षेत्र की संस्कृति और जीवन-मूल्यों से संबद्ध अनुभवों को ग़ज़ल में लाने वाले कई ग़ज़लकार भी सामने आते हैं। इनमें रामकुमार कृषक, बल्लू सिंह चीमा, डी. एम. मिश्र, महेश कटारे सुगम, राम मेश्राम, इंदु श्रीवास्तव, नूर मुहम्मद नूर, वर्षा सिंह आदि प्रमुखतः ग़ज़ल को इस नई दिशा में ले जा रहे हैं। कृषकजी तब लिख रहे थे-

देश दिल्ली की अँगुली पकड़ चल चुका
गाँव से पूछ लें अब किधर ले चलें।

डी.एम. मिश्र के अनुसार-

कर्ज की अर्जी देकर वो लाया फ़र्जी भैंस
ब्लाक, बैंक, पशु अस्पताल वाले हैं मालामाल।

देखने की बात यह है कि इस जीवन और जन-सरोकारों वाली ग़ज़लें मध्यवर्गीय जन-सरोकारों की तरह संवेदनाओं का अमूर्तन नहीं करतीं वरन् उस ठोस हकीकत को सामने रखती हैं जो निम्न-मेहनतकश वर्ग की ज़िंदगी का हिस्सा है। □

हिन्दी ग़ज़लों का विकास और भविष्य

रामनिहाल गुंजन



जन्म : 9 नवंबर, 1936। वरिष्ठ आलोचक, कवि और संपादक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। आलोचना की लगभग 10 पुस्तकें प्रकाशित।

हिन्दी ग़ज़लों की परंपरा और उसके विकास की जब भी चर्चा की जाती है तब आरंभिक जन-पक्षधर और प्रगतिशील ग़ज़लकारों की ओर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। अगर उसके वास्तविक विकास को लेकर बातचीत की जाती है तो निश्चित रूप से हिन्दी ग़ज़लों और गीतों के भविष्य की ओर भी हमारा ध्यान जाता है, जो अस्वाभाविक नहीं है। बहुत पहले जार्ज थॉमसन जैसे काव्य-चिंतक ने कविता के भविष्य को लेकर बातचीत करते हुए लिखा था—“सारा कवि-कर्म सामाजिक कार्य हुआ करता है, जिसमें कवि और जन-समुदाय का संवाद होता है” (‘मार्क्सवाद और कविता’ पृ. 77)। थॉमसन का यह कथन जैसे प्रत्येक काल की कविता’ अथवा अन्य काव्य-विधाओं के साथ भी लागू होता है, पर उसकी कुछ शर्तें भी हुआ करती हैं और वह ये कि उससे मनुष्य की चेतना और दृष्टि का विकास होना आवश्यक है। इसलिए हिन्दी ग़ज़लों के प्रसंग में बातचीत करते हुए आवश्यक है कि उसके पारंपरिक स्वरूप और आज के संदर्भ में उसके परिवर्तित रूप, शिल्प, भाषा और काव्य की प्रासंगिकता का भी ध्यान रखा जाए। हिन्दी ग़ज़ल के शुरुआती दौर में जब निराला अपनी ग़ज़लों में ऐसी पंक्तियाँ लिख रहे थे—‘खुला भेद विजयी कहाए हुए जो/ ‘लहूँ दूसरों का पिए जा रहे हैं’—तब हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक प्रकार से प्रतिरोध-चेतना का विकास हो रहा था, जिसकी गूँज पहले-पहल निराला की कविताओं में ही सुनाई पड़ी। उसी के समानांतर भारतीय समाज में अमानवीय स्थितियों को देखते हुए निराला अपनी ‘भिक्षुक’, ‘विधवा’ और ‘वह तोड़ती पत्थर’ जैसी कविताएँ लिख चुके थे। उनके नवगीत की ये पंक्तियाँ—‘मानव जहाँ बैल-घोड़ा है/ कैसा तन-मन का जोड़ा है’—भी उसी दौर की याद दिलाती हैं। ऐसे ही दौर में हिन्दी ग़ज़ल की एक नई धारा का उदय लक्षित हुआ, जिसमें आगे चलकर पूँजीवाद का कड़ा प्रहार करती हुई निराला की एक ग़ज़ल के इस अंशआर को खासतौर पर रेखांकित किया गया—‘भेद कुल खुल जाए वह सुर हमारे दिल में है/ देश को मिल जाए जो पूँजी तुम्हारी मिल में है।’

गौरतलब है कि निराला की काव्य-परंपरा के साथ ही उनकी ग़ज़लों की भी एक धारा विकसित हुई जिसे आगे बढ़ाने का काम

प्रमुख रूप से त्रिलोचन ने किया। दरअसल त्रिलोचन वैसे भी निराला से गहरे प्रभावित थे। उनका मानना था कि “निराला की तरह अपनी बात को कम शब्दों में इतने प्रभावशाली ढंग से कहने वाला तथा इतनी वैविध्यता से आत्मसात् करने वाला व्यक्ति कहीं अन्यतम नहीं है।” (‘त्रिलोचन पर डायरी’, सं. ओमेंद्र, संस्करण 1995, पृ. 5)। उनकी कविताओं पर बातचीत करते हुए केदारनाथ सिंह ने उल्लेख किया है कि वे आज के सबसे प्रासंगिक कवि हैं। यों त्रिलोचन ने सॉनेट और कविताओं के अलावा ग़ज़लें भी लिखी हैं और वे कविता में जब कहते हैं,—‘मैं सबका अपना हूँ सब मेरे अपने हैं/ मुझे शब्द-शब्द में देखो, मैं कहाँ हूँ’ तो स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह कहना भी कितना सार्थक है कि ‘वसुधा मेरा घर है।’ वैसे ही त्रिलोचन अपनी ग़ज़लों में भी अपनी भावना और विचारों का सामान्यीकरण कर देते हैं तब लगता नहीं कि यह सिर्फ़ उनका ही दुःख है। यानी उनका निजी अभाव और दुःख पूरी दुनिया का अभाव और दुःख लगने लगता है। उनके इस शेर से यही ध्वनिता होता है—‘बिस्तरा है न चारपाई है/ ज़िंदगी खूब हमने पाई है।’ यह भारत के करोड़ों लोगों का जीवन यथार्थ है। उनकी अन्य ग़ज़लों में भी इस प्रकार की स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। कुछेक पंक्तियाँ देखें—

- कल अँधेरे में जिसने सर काटा/ नाम मत लो हमारा भाई है
- आदमी जी रहा है मरने को/ सबके ऊपर यही सच्चाई है
- कहूँ क्या बात आँखों की इन्हें परदा नहीं आता/ कहीं कुछ वेदना देखी कि आँसू/ बह निकलता है।

उल्लेखनीय है कि कई ग़ज़लकार त्रिलोचन के समय में ही ग़ज़लें लिख रहे थे और जिस अंदाज़ेबयाँ और ग़ज़लियत के साथ त्रिलोचन लिख रहे थे, उससे थोड़ा अलग हटकर दुष्यंत कुमार कुछ नए अंदाज़ में अपनी ग़ज़लें पेश कर रहे थे, जिसके कारण उनकी अलग से पहचान क़ायम हुई और उनकी ग़ज़लों की रवानगी और विषयवस्तु की प्रभावशीलता से उर्दू और हिन्दी ग़ज़लगोई दोनों प्रभावित हुई। दरअसल यह ग़ालिब, मीर, नज़ीर अकबराबादी और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की जो उर्दू में प्रगतिशील काव्यधारा थी, दुष्यंत की ग़ज़लें उसी के मेल में थीं और आमफ़हम अंदाज़ में कही गई थीं। इसलिए उसे उर्दू और हिन्दी भाषी अवाम में शीघ्र

मक्रबूलियत हासिल हो गई और उर्दू-हिन्दी कविता के इतिहास में ऐसा शायद पहली बार हुआ कि हिन्दी के किसी ग़ज़लकार को उर्दू के ग़ज़लकारों के समानांतर इतनी ज़्यादा लोकप्रियता मिली।

इस दृष्टि से देखने पर दुष्यंत की ग़ज़लों के ये अशआर ज़्यादा प्रामाणिक सिद्ध होते हैं—

- पक गई हैं आदतें बातों से सर होगी नहीं/ कोई हंगामा करो ऐसे गुज़र होगी नहीं।
- आपके टुकड़ों के टुकड़े कर दिए जाएँगे पर/ आपकी ताज़ीम में कोई असर होगी नहीं।
- आज मेरा साथ दो, वैसे मुझे मालूम है/ पत्थरों में चीख़ हरगिज़ कारगर होगी नहीं।

दुष्यंत कुमार के बाद हिन्दी के दो ग़ज़लकारों—अदम गोंडवी और शलभ श्रीराम सिंह ने हिन्दी में ग़ज़लें लिखकर उर्दू की ग़ज़लगोई के समानांतर-प्रकारांतर से एक नया मानदंड स्थापित करने का काम किया जिसे उर्दू-हिन्दी के ग़ज़लकारों और आलोचकों ने भी स्वीकार किया और यह तय मान लिया गया कि उर्दू में लिखी जा रही ग़ज़लों से हिन्दी में लिखी जा रही ग़ज़लें किसी प्रकार कमतर नहीं हैं। दोनों भाषाओं की ग़ज़लों में अगर भाव-बोध के आधार पर तुलना की जाए तो हिन्दी की ग़ज़लें सेसर ही साबित होंगी, इसमें कोई शक नहीं। इसके प्रमाण में अदम गोंडवी और शलभ श्रीराम सिंह की ग़ज़लों के कुछ रूप देखे जा सकते हैं—

- घूसख़ोरी, कालाबाज़ारी है या व्यभिचार है/ कौन है जो कह रहा भारत में भ्रष्टाचार है।
- घाघरा की बाढ़ में जब गाँव सारे बह गए/ बस यहाँ उस दिन से इनके बैंगलों में त्योहार है।
- जब सियासत हो गई है पूँजीपतियों की रखैल/ आम जनता को बगावत का खुला अधिकार है।

(अदम गोंडवी)

- जले हैं घर कि जलाए गए हैं लोग कई/ हरेक शख्स लिए इक यही ख़बर पहुँचा।
- पयामे अमन से पहले दियारे-हस्ती में/ फ़साद-फ़िलतः-तअस्सुब क़हर-ग़दर पहुँचा।
- दिल हो शायर का रहे हुस्ने-वतन उसमें अगर/ खून की आँख से तब जाके टपकना देखो।

(शलभ श्रीराम सिंह)

ज़ाहिर है अदम गोंडवी और शलभ श्रीराम सिंह जिस पाए के शायर और ग़ज़लकार हैं, उनके लिए सामाजिक और राजनैतिक विसंगतियों पर लिखना और सधे हुए अंदाज़ में उन पर तंज़ करना बिल्कुल स्वाभाविक था। ऐसी स्थिति में अदम का यह कहना वाजिब ही है कि ‘जनता के पास एक ही चारा है बगावत/ ये बातें कह रहा हूँ होशो-हवास में।’ दूसरी ओर शलभ श्रीराम सिंह का भी यह कहना इसी प्रसंग में देखा जाना चाहिए—‘शलभ उतरी है शब बगावत पर कोई सूरज पिघल रहा होगा।’ इस प्रकार देखें तो अदम गोंडवी और शलभ श्रीराम सिंह अपनी क्रांतिकारी तेवर वाली ग़ज़लों के लिए बराबर याद किए जाएँगे।

गौरतलब है कि उपर्युक्त काव्यधारा की शृंखला को आगे बढ़ाने वाले कई कवियों और ग़ज़लकारों का स्मरण आना स्वाभाविक है, जिसमें बल्लू सिंह चीमा, रामकुमार कृषक,

कमल किशोर श्रमिक, गोरख पांडेय, विजेंद्र अनिल, कुमार नयन आदि जैसे हिन्दी के प्रगतिशील कवि और ग़ज़लकार प्रमुख हैं। इन ग़ज़लकारों ने अपनी ग़ज़लों के ज़रिए उसी परंपरा को अपने-अपने ढंग से विकसित करने का काम किया है, जिसका प्रारंभ निराला ने किया और जिसे गंगा-जमुनी संस्कृति के महत्व से मंडित करते हुए उसी जनपक्षधर काव्य-परंपरा को आगे बढ़ाने का काम दुष्यंत कुमार ने किया। इन कवियों और ग़ज़लकारों ने भी अपने-अपने ढंग से उसी काम को अंजाम देने का काम किया। तात्पर्य यह कि इन्होंने भी अपनी रचनाओं के द्वारा जन-विरोधी स्थितियों और शक्तियों का विरोध करना ज़रूरी समझा जिस बाबत कभी फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने कलमकारों का आह्वान करते हुए कहा था—“आज लिखने वालों का काम यह है कि वो साम्राज्यवाद, नस्लपरस्ती और नव-उपनिवेशवादी निज़ाम की मुख़ालफ़त करें और मशरिक तथा मगरिब के अवाम से मोहब्बत करें। आज़ादी, जम्हूरियत और इन्सान की हक़ूक के लिए जद्दोज़हद करने वालों की पुरज़ोर हिमायत करें।” (पाकिस्तान में उर्दू कलम, संस्करण 1981, पृ. 7)। उपर्युक्त ग़ज़लकारों ने वैचारिक दृष्टि से इन बातों का ध्यान रखते हुए बदस्तूर अपनी ग़ज़लें लिखने का काम किया।

इसी प्रसंग में जहाँ तक बल्लू सिंह चीमा की ग़ज़लों की बात है, वे ख़ासतौर पर समाज और देश में जनता की बदहाली, किसानों और मज़दूरों की समस्याओं तथा युवा-वर्ग की आशा-आकांक्षा को लक्ष्य कर लगातार लिखते रहे हैं जिसकी बानगी इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

- यह ग़ज़ल जो राजमहलों की कभी जागीर थी/ अब तो इसको झोंपड़ी की अंजुमन तक ले चलें।
- रेडियो तो रोज़ कहता है यही लोगो/ हर मदद अब बेसहारों तक पहुँचती है।
- जुल्म जब बेहिसाब होता है/ तब कोई इंक़लाब होता है।

उल्लेखनीय है कि बल्लू सिंह चीमा ने उपर्युक्त पंक्तियों की रचना करते हुए वर्ष 1976 से देश में चल रहे जन-आंदोलनों को ख़ासतौर पर ध्यान में रखकर लिखा और इस प्रकार की ग़ज़लें उनके संग्रहों ‘ख़ामोशी के ख़िलाफ़’ (1980), ‘ज़मीन से उठती आवाज़’ (1990), ‘तय करो किस ओर हो’ (1994) तथा ‘हादसा क्या चीज़ है’ (2012) में संकलित होकर सामने आईं और इनका इस दृष्टि से ज़्यादा महत्व है कि ये देश और समाज में होने वाली जनविरोधी स्थितियों की ओर समय-समय पर लोगों का ध्यान आकृष्ट करती रहीं तथा देश की यात्रा और व्यवस्था को भी इसके प्रति सावधान करती रहीं। चूँकि देश में गाँधीवाद के नाम पर बनाई गई कई योजनाएँ असफल सिद्ध हुईं और सत्य और अहिंसा के नाम पर देश की जनता को गुमराह किया जाता रहा, लिहाज़ा इस पर भी चीमा ने आगे बढ़कर लिखा, ‘बात गाँधीवाद की छोड़ो जनाब/ भगत सिंह की राह दिखलाओ ज़रा...।’

गाँधीवाद अपनी जगह है और उसके महत्व से इंकार भी नहीं किया जा सकता लेकिन लाभ-लोभ की राजनीति और सत्ता की होड़ में गाँधीवाद को नज़रअंदाज़ ही किया जाता रहा और यही कारण है कि सत्य, अहिंसा और गाँधीवाद की बातें अब इतिहास की बातें बनती जा रही हैं। दरअसल गाँधीवाद आज के ज़माने में

राजनैतिक लाभ का जरिया बन कर रह गया है जिसे आज के लेखकों और कवियों ने भी बखूबी समझ लिया है। बल्ली सिंह चीमा जब गाँधी के बजाय भगत सिंह के रास्ते से देश का भविष्य तय होने की बात करते हैं तो जाहिर है वे भगत सिंह के विचारों को आज के संदर्भ में प्रासंगिक मानते हुए उन्हें देश की व्यापक जनता के हित में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए आवश्यक मानते हैं। वे वर्तमान व्यवस्था में प्रचारित की जा रही इस बात पर कि बेसहारा को मदद दी जा रही है, व्यंग्य करते हुए कहते हैं, 'हर सुबह उठ मुल्क के अखबार भी देखा करो/ कब कहाँ क्या कर रही सरकार भी देखा करो।'

यों बल्ली सिंह चीमा की तरह कवि-गज़लकार रामकुमार कृषक ने भी अपनी जनपक्षधर गज़लों के जरिए जन-जागरण का ही काम किया। उल्लेखनीय है कि कृषकजी की साहित्य-साधना लंबी है और उनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं, जिनमें प्रमुख हैं 'नीम की पत्तियाँ' (1984), 'फिर वही आकाश' (1991) और 'अपजस अपने नाम' (2012)। कृषकजी ने इन संग्रहों में संकलित अपनी गज़लों के माध्यम से सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विद्रूपताओं पर प्रखर व्यंग्य-प्रहार करते हुए लिखा है-

- टिके हुए मंदिर-मस्जिद धन-दौलत की लूट से/ धन-दौलत भी टिकी हुई है लूट-पाट की छूट से।
- गौतम से हम चले थे मगर गोडसे हुए/ अमनोअमन के नाम पर तरक्की यही यहाँ।
- पूछिए मत इस ज़माने की तरक्की का चलन/ कारख़ानों के लिए जंगल बनाए जा रहे।
- रोज़ मर-मर जी रहे हैं लोग अंश-अंश ज़िंदगी/ मौत से कमतर नहीं है तो भी दिलचस्प ज़िंदगी।

कृषकजी त्रिलोचन और दुष्यंत कुमार के बाद हिन्दी में गज़ल लिखने वालों में प्रमुख हैं। उनकी उपर्युक्त गज़लों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे सधे हुए अंदाज़ में बड़े सलीके से समाज की धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक स्थितियों का जायज़ा लेते हैं और उन पर वैचारिक दृष्टि से जो टिप्पणी करते हैं उससे उनका रचना-विवेक तो स्पष्ट हो ही जाता है, साथ ही उनके गज़लकार-व्यक्तित्व की संजीदगी का भी पता चल जाता है, जो उनकी एक खास विशेषता भी है। कृषकजी निरंतर गज़लें लिखते हुए देश और समाज की स्थितियों पर भी बराबर नज़र रखते हैं। इधर उन्होंने कोरोना काल की गज़लें भी लिखी हैं जिनमें उन्होंने यथार्थपरक स्थितियों पर व्यंग्य किया है, जो उनके सजग लेखकीय दायित्व का भी सूचक है।

उपर्युक्त गज़लकारों की शृंखला में आगे आनेवाले गज़लकारों में कमल किशोर श्रमिक का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। उनकी गज़लों पर बातचीत करने का एक खास अर्थ है और वह इसलिए कि वे स्वयं एक श्रमजीवी का जीवन जीते हुए यानी जीवन-संघर्ष करते हुए रचना-कर्म से भी जुड़े रहे। उनकी गज़लों का पहला संग्रह वर्ष 1984 में 'ये आसमान परिंदों के लिए है' नाम से छपा था, जिसमें उनकी प्रारंभिक दौर की गज़लें संकलित हैं, जिनकी उस ज़माने में काफ़ी चर्चा हुई। बाद में यानी वर्ष 2001 में 'श्रमिक की गज़लें' शीर्षक से उनकी 237 गज़लों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ जिसका संपादन प्रभा

दीक्षित ने किया है, जिन्होंने पुस्तक की भूमिका में श्रमिकजी के कवि-व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए लिखा है-"उनकी कविता और कवि ने कहीं भी समझौता नहीं किया है। यही कारण है कि ये आधुनिक दरबारी कवियों की क्रतार से बाहर खड़े नज़र आते हैं। गौरतलब है कि श्रमिकजी वर्ष 1966 से राजनीति में सक्रिय रहकर जीविका के लिए कई तरह के काम करते रहे और अर्थाभाव के कारण उनकी रचनाओं का प्रकाशन समय पर नहीं हो सका। श्रमिकजी अपनी गज़लों को गाँव से लेकर शहर तक के जीवन के तलख़ अनुभवों का आईना मानते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि उनके जीवनानुभव काफ़ी कटु रहे हैं तथा उन्होंने देश और समाज की विख्यात स्थितियों को गहराई से महसूस करते हुए अपनी गज़लें लिखी हैं, जिनमें से कुछेक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

- कुर्सी के लिए मुल्क का सौदा न कीजिए/ बँधुआ बने हैं लोग विदेशी उधार में।
 - बच्चों को मेरे सुर्ख़ सुबह की तलाश है/ सदियाँ गुज़र गई इसी इंतज़ार में।
 - हम अपने घर में कई पीढ़ियों से देख रहे/ अभाव शान से बैठा है जमाई की तरह।
 - गाँवों के साथ शहर का रिश्ता भी देखिए/ परधानजी का शहर में गल्ला-गुदाम है।
- यों श्रमिकजी ने ऊपर के अशआरों में देश और समाज की जिस हकीकत को बयान किया है वह इतना आम हो गया है कि लोग उसे बखूबी समझते हुए देश की व्यवस्था को अपने-अपने ढंग से प्रश्नांकित करने लगे हैं। वैसे श्रमिकजी की निगाह में कुछ अन्य तथ्य भी हैं जिनकी ओर वे देश के किसानों, मज़दूरों और आमजनों का ध्यान आकृष्ट करना ज़रूरी समझते हुए लिखते हैं-
- भूदान की ज़मीन पे कब्ज़ा किसे मिला/ गाँधी का फ़लसफ़ा भी सिर्फ़ रामनाम है।
 - इस भुखमरे किसान को दिखलाइए ज़रूर/ टेलीविज़न में गाँव की रंगीन शाम है।
 - भूख़ एहसास में उतरी है यूँ ज़हर की तरह/ लोग रहने लगे हैं खुद में जानवर की तरह।
 - यही सुकून है आँगा इंकलाब कभी/ अभी से हो गई शुरुआत मेरी बस्ती में।

यों श्रमिक की उपर्युक्त पंक्तियों में जो बात सबसे ज़्यादा संवेदना जगाने वाली है वह है भूखों मर रहे किसानों को भूख से त्राण दिलाने की व्यवस्था करने के बजाय टेलीविज़न में गाँव में रंगीन शाम दिखलाया जाना और भूख के एहसास से लोगों का जानवर में तब्दील हो जाना। इस तरह की त्रासद स्थितियों के लिए सरकार को प्रश्नांकित किया जाना स्वाभाविक है और यह सच्चाई इधर पिछले दिनों कोरोना काल में मुंबई आदि जगहों से भूख से बिलबिलाए पैदल अपने गाँवों को लौटते मज़दूरों को देख सामने आ जाती है। इस प्रकार कमल किशोर श्रमिक की गज़लगाई इस अर्थ में बेमिसाल साबित होती है। वे दुष्यंत कुमार की परंपरा को अपने ढंग से विकसित कर रहे हैं। उनकी गज़लों की संख्या को देखते हुए उन पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है।

इसी प्रसंग में हिन्दी और भोजपुरी के कवि-गज़लकार गोरख पांडेय की गज़लों के बारे में जब हम बात करते हैं तो इस

विशेषता की चर्चा जरूरी तौर पर की जाती है कि वे मूलतः एक लोकधर्मी कवि, गीतकार और ग़ज़लकार हैं। ये लोक-जीवन से अपनी रचनाओं के लिए वस्तु की तलाश करते हैं। इसलिए उनकी रचनाएँ सामान्य जन के बीच ज़्यादा लोकप्रिय हैं। वे मानते हैं, “हमारी स्थिति ऊपर से फैले अंधकार के बीच नहीं है, हम नीचे से उत्पीड़ित लोगों के संघर्ष से फूटती हुई रोशनी के बीच में भी जी रहे हैं और कविता सिर्फ़ अंधकार के बारे में नहीं, अंधकार को तोड़ने वाली रोशनी के औज़ारों के बारे में लिखी जा रही है और लिखी जाएगी।” गोरख पांडेय ने कविताओं, गीतों के अलावा ग़ज़लों की भी रचना की है। वैसे ग़ज़लें उन्होंने कम ही लिखी हैं, लेकिन विषयवस्तु की दृष्टि से असरदार साबित हुई हैं। उनकी ग़ज़लों का अलग से कोई संग्रह नहीं है। उनकी कविताओं का एक संग्रह ‘जागते रहो सोनेवालों’ नाम से बहुत पहले प्रकाशित हुआ था। उनकी संपूर्ण कविताओं का संकलन वर्ष 2013 में प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी नौ ग़ज़लें भी संग्रहित हैं। उनकी ग़ज़लों की एक खास विशेषता यह है कि वे सरल-सहज शब्दों में रचित होकर भी अपनी अर्थ-गरिमा से पाठकों को प्रभावित करती हैं। कुछ अशआर देखें—

- हम कैसे गुनहगार हैं, उनसे न पूछिए/ वे अदालतों के पार हैं, उनसे न पूछिए।
- बजने लगी है नगमों में बेसाख़्ता ज़ंजीर/ किस साज़ के ये तार हैं, उनसे न पूछिए।
- हवाएँ पूरब से चल पड़ी हैं क्रफ़स की चूल्हें हिली हुई हैं/ ये वक्र तो दस्तक देने का है, ऐ हाथवालो, थमे कहाँ हो।
- धरती समंदर आसमाँ राहें जिधर चलें, खुली/ ग्राम भी मिटाने की राह है, सचमुच अगर तलाश हो।

गोरख पांडेय जन-आंदोलनों के भी कवि और ग़ज़लकार रहे हैं। उनके गीत और ग़ज़लें आज भी बिहार और उत्तर प्रदेश के गाँवों में गाई जाती हैं। वे बेहतर समाज के सपने देखते थे और जन-विरोधी शासन और व्यवस्था को देखकर कहा करते थे, “जितनी जल्दी हो इस दुनिया को बदल देना चाहिए।” वे आज नहीं हैं, लेकिन उनके स्वप्न और रचनाएँ आज भी प्रेरक का काम करती हैं।

यों गोरख पांडेय और अन्य जनपक्षधर रचनाकारों की तरह विजेंद्र अनिल की ग़ज़लों की चर्चा करने की जरूरत इसलिए भी है कि दुष्यंत की परंपरा को आगे बढ़ाने और विकसित करने का काम उन्होंने बढ़-चढ़कर किया है। उन्होंने कविता, गीत और ग़ज़लें भी लिखी हैं। उनकी हिन्दी कविताओं का कोई संकलन नहीं आया हालाँकि उनके भोजपुरी गीतों के दो संग्रह प्रकाशित हैं। उनकी हिन्दी ग़ज़लों का एक संग्रह ‘लिखने वालों को मेरा सलाम’ (2008) नाम से जरूर प्रकाशित है, जिसमें संकलित उनकी ग़ज़लें भी जन-आंदोलनों में गाई जाती रही हैं और गोरख पांडेय की ग़ज़लों की तरह वे भी बिहार और उत्तर प्रदेश के गाँवों और शहरों में गाई जाती हैं। ऐसे में उनकी ग़ज़लों के कुछ अशआर यहाँ पेश किए जा रहे हैं—

- मेरे हमदम मेरी आवाज़ को ज़िंदा रखना/ साँस रुक जाए मगर साज़ को ज़िंदा रखना।
- लिखने वालों को मेरा सलाम/ पढ़ने वालों को मेरा सलाम।
- जवान खून से अपना महल रँगने वालों/ याद रखना तुम्हारे हक़ में सिर्फ़ ग़म होगा।

इस प्रकार देखा जाए तो विजेंद्र अनिल अपनी ग़ज़लों के जरिए जन-जागरण का ही काम करते रहे। यों भी वे लोकधर्मी और क्रांतिधर्मी कवि और गीतकार तथा ग़ज़लकार के रूप में याद किए जाते हैं।

दरअसल हिन्दी में लोकधर्मी और क्रांतिधर्मी कविताएँ, गीत और ग़ज़लें लिखने वालों की एक लंबी क़तार है, जिसमें उपर्युक्त कवियों, गीतकारों और ग़ज़लकारों को सम्मान के साथ याद किया जाता है। इन कवियों और ग़ज़लकारों की भूमिका को इसलिए भी याद किया जाता है कि अपनी रचनाओं के द्वारा समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़े शोषित-उत्पीड़ित लोगों को उन्होंने सामने लाने का प्रयत्न किया जिनकी ओर समाज में प्रतिष्ठित तथाकथित साहित्यकारों का ध्यान प्रायः नहीं जाता जो स्वांतःसुखाय रचना कार्य में संलग्न रहते हैं। इसके बरक्स जो जनपक्षधर रचनाकार हैं वे उनके दुख-दर्दों को अपनी रचना का आधार जरूर बनाते हैं। हिन्दी के ऐसे ही रचनाकार कुमार नयन ने अपनी ग़ज़लों में वैसे ही लोगों की स्थितियों को चिन्हित करने का प्रयास किया है। उनकी कविता की एक पुस्तक ‘सोचती औरतें’ नाम से प्रकाशित है और ग़ज़लों की एक किताब ‘आग बरसाते हैं शज़र’ शीर्षक से छपी है। उनका कहना है, “अपने आस-पास मौजूद सामाजिक कुरीतियों और सामाजिक बुराइयों से उत्पन्न छटपटाहट ने ही मुझे क़लम उठा रचनाकार बनने को विवश किया।” वे अपने लेखकीय दायित्व के तहत रचना-कार्य लगातार करते हैं। उनकी ग़ज़लें भी अपना दायित्व बखूबी निभाने का काम करती हैं। उनकी ग़ज़लों के कुछ अशआर देखें—

- अम्न का शहर है ये अगर तो बता/ खूँ से तर वो सड़क पर गिरा कौन है।
- धूल में भी कभी कीचड़ में भी चलकर देखो/ बस्तियाँ और भी हैं घर से निकलकर देखो।
- जम्हूरियत के ख़्वाब को ले उठ रही है अब/ हर क़ौम तानाशाह की सरकार के खिलाफ़।
- चुपचाप खड़ी भीड़ में पिटता है एक शख़्स/ आते हैं नज़र ऐसे ही मंज़र बहुत यहाँ।
- हरेक शख़्स सुलगती हुई है चिनगारी/ उठेगी कोई बगावत तुम्हें नहीं मालूम।

ऊपर की पंक्तियों में अम्न के नाम पर क़त्लेआम, जम्हूरियत बनाम तानाशाही, मॉब लिंगिंग, अवाम की बगावत आदि को लेकर लिखी गई ग़ज़लों के अशआर आज के माहौल में कितने मौजूद हैं, इसे समझा जा सकता है। वैसे कुमार नयन की यह एक ख़ासियत भी है कि वे सलीक़े से अपनी बात कहते हुए ज़माने के हिसाब से अपनी ग़ज़लें पेश करते हैं। इस तरह अगर देखा जाए तो यह हिन्दी ग़ज़लों का दौर भी है जिसमें क्रिस्म-क्रिस्म की ग़ज़लें कही या लिखी जा रही हैं, अब देखना यह है कि आगे कैसी ग़ज़लों की जरूरत है, इसी से हिन्दी ग़ज़लों का भविष्य भी स्पष्ट होगा। □

गज़ल के गाँव में बाहरी आदमी

विजय बहादुर सिंह



जन्म : 16 फरवरी, 1940 (आंबेडकर नगर, उत्तर प्रदेश)। कवि, गद्य लेखक, वरिष्ठ समीक्षक और समालोचक। भवानी प्रसाद मिश्र, दुष्यंत कुमार और आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी की रचनावलियों के संपादक। 'राम विलास शर्मा' सम्मान सहित कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित।

यह कबूल कर लेने में कोई हर्ज नहीं कि मैं ग़ज़ल के गाँव का आदमी नहीं हूँ। मज़ा फिर भी यह कि मुझसे उसका पड़ोस कभी छूटा ही नहीं। उत्तर प्रदेश के जिस फ़ैजाबाद (अवध) इलाके की मिट्टी और आबो-हवा में मेरी आँखें खुलीं और साँसें फूटीं वह ग़ज़ल ही नहीं, उर्दू जुबान के मुहावरों में ही उठा-बैठा करता था। अपने गाँव जयमलपुर-सेमरो के पेशेवर मक्कदमेबाजों के बीच जब-तब किसी संयोगवश फ़ैस जाने पर उनकी सधी हुई रेज़ता सुनते हुए रम-सा जाता। मई-जून की लू-लपट के बीच बड़हार वाले दिन की दोपहरी में सजी-धजी बारातों की महफ़िलों में रुन-झुन करते घुँघरुओं, तबला और सारंगी की संगत पाकर थिरक उठती बाइयाँ ग़ज़लों की जैसी उठान और अदायगी करतीं उसे अपने किशोर काल में भले न समझ पाता पर महसूस करने में शायद ही कभी कोई चूक होती। शायरी और कविता को वैसे भी, दिमाग़ से समझना कहाँ ज़रूरी माना जाता है और दिल तो अपने पास इतना खूब था कि कभी कहीं अटका ही नहीं।

फिर ग़ज़ल से यारी करने से रोक कौन पाता लेकिन ... हाँ मेरे आर्यसमाजी महाशयजी कहलवाने और जाने जाने वाले उर्दू पढ़े-लिखे पिता को ग़ज़ल-वज़ल से जैसे कोई वास्ता ही नहीं था। 'वेद', 'उपनिषद्', 'रामायण', 'महाभारत', 'गीता' या फिर स्वामी दयानंद का 'सत्यार्थ प्रकाश' यही कुल तो उनकी दुनिया हो चुकी थी। तब इन दोनों ही इलाक़ों में आना-जाना मेरे लिए साँस लेने जैसा होता गया।

ग़ज़ल के साथ जीने और रहने की अपनी यही कहानी है। इसे संयोग ही मानूँगा कि कालांतर में यानी दस-बारह साल बाद के जीवनोपरांत उस शख्स से एक गोष्ठी में अकस्मात् मुलाक़ात हुई जो उस समय के चर्चित गीत-कवि, 'वंशी और मादल' के कवि ठाकुर प्रसादसिंह के कलकत्ता आगमन पर आयोजित गोष्ठी में मिला। कवि और गीत-ग़ज़ल वाली उस भीड़ में जिस एक कवि ने अपनी कविता और काव्य-पाठ के सौंदर्य से मुझे अपनी ओर

खींचा वह श्रीराम सिंह 'शलभ' था जो कुछ ही दिनों बाद सारे शलभों से निकल मेरे देखते-देखते शलभ श्रीराम सिंह हो गया। यह याद न करना हद दर्जे की कृतघ्नता होगी कि इसके हेतु बड़े भाई समान आदरणीय कृष्ण बिहारी मिश्रजी बने। अब तो अठासी के आस-पास होंगे पर पूरी तौर पर अपनी सचेतनता के साथ यों ग़ज़लों के प्रति मेरे आकर्षणों को उद्दीप्त करने वाले कॉलेज के



शलभ श्रीराम सिंह (बाएँ), विजय बहादुर सिंह (दाएँ) वर्ष 1964

दिनों में स्वर्गीय आचार्य प्रोफ़ेसर रघुनंदन मिश्र थे जो काशी विश्वविद्यालय के महाचार्य पं. केशवप्रसाद मिश्र के छात्र रह चुके थे। उनकी शायद ही कभी कोई कक्षा ऐसी गई हो जिसमें वे उर्दू शायरों का कोई शेर सुनाए बग़ैर कक्षा समाप्त करते हों। बनारसी नामवरजी में भी यह बान कम नहीं थी।

'शलभ' से भेंट होने पर मेरा अपना कवि भी रंग निखारने लगा। तभी एक दिन उसने यह राज़ खोला कि कविता के आँगन में वह शायरी के दरवाज़े से ही घुसा था यानी 'शलभ' 'फ़ैजाबादी' के रूप में घरवालों, खासतौर से पिता की दबंगई से विद्रोह कर वो सबसे पहले जिगर साहब के पास न जाने कैसे पहुँचा था फिर मूनलाइट थियेटर के नरसी मेहता के यहाँ। कहना कठिन। जाति का ठाकुर और मेरे उसी अँचल का। आस-पास से रिश्तेदारी में भी आता। नव-गीत लिखने के साथ-साथ, फिर से

कब ग़ज़लों और नज़्मों की ओर बढ़ता चला गया, पता तक नहीं चल पाया। अब तो पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि वह सचमुच विरल प्रतिभा-संपन्न था। मज़ाल कि शमशेर, नागार्जुन या ख़ालिस उर्दू शायर कैफ़ भोपाली उसके किसी एक भी मिसरे पर क़लम रख सकें। तुलना भी वो अपनी कालिदास, मीर-ग़ालिब, निराला या फिर अपने ही फ़ैजाबाद के मजाज़ (रुदौली) से किया करता। दशकों में अपनी-अपनी पहचान बनाते कवियों को संकेतों ही संकेतों में लक्ष्य करते हुए, यह कहे बग़ैर नहीं रह पाता कि मैं दशकों का नहीं परंपरा की विरासतों का कवि हूँ। अब याद करता

हूँ तो अपनी तुलना के अखाड़े में उसने कभी प्रसादजी को नहीं पुकारा। मणि से विभूषित सर्प में ज़हर भी उतना ही खतरनाक हुआ करता है। इतने अहंकार के बाद भी विनम्रता तो उसमें थी ही। कहीं अपने होने का ऐसा अहंकार इसलिए आलोचकों से उसकी बनती कम ठनती कुछ ज्यादा ही थी पर मीर-ग़ालिब या निराला का हर क्षण जीता हुआ वह अपने मद में माता ही रहता किसी मुक्ताधारी ग़ज़ल की तरह।

याद है हम दोनों एक शाम सब्ज़ी-मंडी में मिले। अचानक उसने मुझसे कहा— “आज मैं एक ऐसा शेर कह रहा हूँ जिसमें मीर और ग़ालिब-दोनों ही मेरे साथ होंगे।” ठेलों पर लगी सब्ज़ियों को देखने से अपना ध्यान हटा मैं उसके उस चेहरे की ओर देखने लगा जो चौबीसों घंटे मेरे साथ होता ही होता था पर इस शाम उसके चेहरे की रौनक कुछ की कुछ हो उठी थी जिसमें पीड़ा की गहरी कसक और उससे निजात पाने की ज़बरदस्त छटपटाहटें थीं। शेर जो उसने उस वक्त कह सुनाया, वो है—

नाज़ शहज़ादि-ए-ग़ुलशन के अदा सहराई

मीर से गोया कि ग़ालिब की ग़ज़ल टकराई।

विदिशा आकर उसे नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र के प्रायः आने-जाने और कवि वेणुगोपाल, नरेंद्र जैन, नवोदित कथाकार जयशंकर, चित्रकार दोस्त ठाकुर रघुनाथ सिंह की संगतों का लेप धीरे-धीरे उसके टीसते घावों को भरने लगे थे। यही दिन थे जब वो ऐसे शेर कह रहा था—

मेरे ख़्वाबों को परीशान किए रहती है

उसकी ख़ामोश निगाहों से बँधी शहनाई।

उसने मेरा ध्यान मीर की नाजुकी और ग़ालिब की मर्दानगी की तरफ़ खींचा और कहा—मैंने दोनों को यहाँ पंच कर दिया है। पर इसकी वजह से जवाब मिलता है—

‘निगाह-दर-निगाह’ जो उसकी नज़्मों, फ़िल्मी गीतों, कुछेक ग़ज़लों और नए गीतों का पंचमेल-सा संग्रह के प्रकाशकीय में उसने दर्ज करवाया, “औरत, कुदरत और बगावत को एक साथ मिलाकर देखने पर जो चीज़ शकल अख़्तियार करती नज़र आए उसे शलभ की शायरी के नाम से बेहिचक पुकारा जाना चाहिए।”

उसकी शायरी में इन तीनों को न सिर्फ़ वाजिब मर्तबा और मुक़ाम दिया गया है बल्कि यह साबित करने की कोशिश भी है कि औरत की अज़मत से वाकिफ़ हुए बिना कुदरत को ठीक-ठीक ढंग से समझ पाना मुश्किल है। उसके यहाँ औरत कुदरत की निगाहों से टपके हुए लहू से बनी है और इस रूप में वह कुदरत को समझने की कोशिश है।”

अपने पहले दीवान या कहीं संग्रह ‘राहे हयात’ में उसने यह खुलासा करवाना भी मुनासिब माना कि मीर, ग़ालिब, जौक़, हाली, मजाज़, परवेज़ और फ़िराक़ तक हम ग़ज़ल की एक मुसलसल रवानी देखते आ रहे हैं पर ग़ज़ल के क़दम फ़ारसी और उर्दू के चिरपरिचित प्रतीकों, काव्य-बिंबों से काफ़ी आगे चलते-चले आए हैं। विषय-वस्तु में भी रद्दोबदल हुआ है।

यहीं उस समय में प्रचलित हिन्दी ‘ग़ज़ल’ को आंदोलन की शकल देने वालों को लक्ष्य कर उसने यह तक कह डाला है कि ग़ज़ल सिर्फ़ एक ‘फ़ार्म’ नहीं, भाषा की अपनी एक संस्कृति भी है। कहने का एक नायाब सलीका। ये उसी के वाक्य हैं जो प्रकाशकीय के रूप में दर्ज किए गए हैं, ‘शलभ’ कविताएँ तो लिखते ही हैं। ग़ज़लें भी उन्होंने बहुत-सी कही हैं। अगर यह कहा जाए कि अपनी ग़ज़लों का उन्होंने हिन्दी में लिप्यांतर मात्र किया है क्योंकि अपने उत्सव में ये ग़ज़लें हमें उसकी परंपरा से जोड़ती

हैं जिसका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है तो ग़लत न होगा।”

कवि-शायर शलभ असल में ग़ज़ल की इसी मूक परंपरा के वाहक थे। इसलिए शमशेर या दुष्यंत को बड़प्पन देते हुए भी उनकी लाइन पर चलने को वे कभी राज़ी नहीं हुए। दुष्यंत तो अकस्मात् चले गए पर शमशेरजी के साथ उसकी नॉक-झोंक मैंने अपनी आँखों देखा और कानों सुना। जगह तो मेरा विदिशा-निवास ही था जिसे वह अपनी किताबों और एकाध नज़्मों में ‘विजय निवास’ दर्ज किया करता था। मजाज़ वाली नज़्म में उसने लिखा—
य’ शहर जिसमें मिली है अभी पनाह मुझे
य’ शहर जिसमें मेरा दोस्त विजय रहता है
य’ शहर जो कि है तारीख़ का सफ़फ़ाक सफ़र
जो अपनी दास्तान खुद जहाँ से कहता है।

अपने इसी 48 नंबर वाले विख्यात-कुख्यात स्वर्णकार कॉलोनी वाले निवास पर कैफ़ भोपाली साहब से उर्दू भाषा के किसी मुद्दे को लेकर उसकी मुँहजोरी मैंने देखी है। न जाने किस मूड में आकर दोनों उस दिन फ़र्श पर ही बैठ गए थे। थोड़ा समझ भी सकता हूँ। कैफ़ आधे मलंग तो थे ही, पीर और औलिया भी थे। थे या नहीं साधिकार यह नहीं कह सकता। ‘पाकीज़ा’, ‘रज़िया सुल्तान’, ‘शंकर हुसेन’ आदि फ़िल्मों के गीतों को लिख चुकने के बाद और पहले से भी उर्दू मुशायरों में उनका जाना एक नई हवा की तरह होता जिसमें मस्ती की तरंग और कल्पना की उड़ान साथ-साथ सफ़र किया करती। पाकीज़ा में उन्होंने ही तो मौसम को आशिकाना महसूस करते हुए सारे दिलदारों को चाँद के ‘भी’ पार चलने का प्रस्ताव भेजा था पर दुनिया इतनी दुनियादार कि अपना आरामदेह बैंगला और फ़्लैट छोड़ पड़ोस तक भी जाने को तैयार नहीं।

कैफ़ लेकिन इतना भर कहाँ थे। उनका सफ़र तो तितलियों से शुरू होकर आँधियों तक जारी रहा करता था। ऐसा शेर भी सिर्फ़ वे ही कह सकते थे—

गुल से लिपटी हुई तितली को गिरा कर देखो

आँधियो! तुमने दरख़्तों को गिराया होगा।

विख्यात ग़ज़ल गायक जगजीत सिंह की आवाज़ ने इसमें चार चाँद लगा दिया है मुखड़ा है—कौन आया है यहाँ कोई न आया होगा।

आज वे शलभ को बड़े बुजुर्ग की हैसियत से समझाने की हरचंद कोशिश कर रहे थे पर वो अपने सच को लेकर अड़ा तो अड़ा ही हुआ था। तभी अंतिम कोशिश करते हुए उन्होंने कहा, “तू मुझसे ज्यादा उर्दू जानता है। मैंने कुरान शरीफ़ का अनुवाद किया है।”

“चचाजान! उर्दू या कोई भी ज़बान किसी की बपौती तो नहीं होती।” शलभ का जवाब था। इतना तो साफ़ था कि उर्दू भाषा, साहित्य और उसकी विरासतों की उसकी जानकारीयाँ खूब और अद्भुत थीं।

उसके इस आत्मविश्वास को वरिष्ठ कवि त्रिलोचन ने बखूबी समझा और महसूस किया था। याद पड़ता है वह एक ऐतिहासिक दौर था जब प्रगतिशील लेखक संघ के कमला प्रसाद जी ने भोपाल में प्रतिबद्ध बुजुर्गों के महत्व का आयोजन शुरू किया। एक ऐसी ही शाम कविमित्र भगवत रावत ने बाबा नागार्जुन और त्रिलोचनजी के साथ मुझे भी अपने यहाँ भोजन पर आमंत्रित किया। इसी गपशप में त्रिलोचन मुझसे पूछ बैठे, “और आपके कविमित्र शलभ इन दिनों कहाँ हैं?” मेरे जवाब “विदिशा में” को पाकर उन्होंने बाबा को संबोधित कर कहा, “ये अपना शलभ

भी ग़ज़ल है। शमशेर जिन उस्ताद शायरों के अखाड़े में जाने से घबराते हैं वहाँ अपना ये शलभ उनके अखाड़े में ताल ठोक कर खड़ा हो जाता है। ऐसी तो थी उसकी प्रतिभा।

बाबा तो उसे बेहद करीब से जानते थे। प्यार भी वे उसे हर कीमत पर करते थे। मैंने अपने ठिकाने पर ही दोनों की यारी और मान-मनौव्वल देखी और भुगती थी। पर उसकी प्रतिभा की प्रशंसा करते तो वे कभी थकते ही नहीं थे। यह उन्होंने ही तो कहा कि शलभ का कोई गोत्र नहीं है वह अपना गोत्र स्वयं है।

त्रिलोचनजी के कथन से उनकी आँखों की चमक ही नहीं बढ़ी, उनके होठ भी मुस्कुराने लगे और दाढ़ी हिलने लगी। यह वह पुलक थी जिसे अगली पीढ़ी पर पिछली पीढ़ी अपनी आश्वस्ति प्रकट करती हुई प्रकट कर रही थी। अब ऐसा अनुभव लगभग दुर्लभ ही होता जा रहा है। पीढ़ियाँ परस्पर डरी हुई हैं अपने-आपको लेकर। उनकी आत्मास्था दुर्बल पड़ती जा रही है और नवीनता निरंतर बासी। कारण खोजें तो पता चलता है कि नवीन की चिंता तो खूब की गई किंतु इस अति में परंपरा की गंध हाथ से छूटती ही चली गई।

ग़ज़ल को इस बस्ती के बाद जिस इलाक़े में सिर्फ़ मेरा नहीं, सारे समय को मजबूरन अपने अनुभवों के चेहरों की तलाश में जाना पड़ा वे 'साए में धूप' वाले कवि-शायर दुष्यंत कुमार थे। उनसे आमना-सामना भले ही सन् बहतर के आखिरी महीनों में हुआ पर उनकी किताबों 'सूर्य का स्वागत' और 'एक कंठ विषपायी' से अपना परिचय सागर विश्वविद्यालय के अपने छात्र-दिनों में ही हो चुका था। नई कविता की अंतर्मुखता और अति-बौद्धिकता, साथ ही सघन अमूर्तता के दायरों को तोड़ वे उसे उस समाज तक ले चलने की कोशिशों में लगे थे जिसमें सहज रसिकता थी।

जब सन् 74 में दुष्यंतजी की ग़ज़लें छपने लगीं मेरा ध्यान उधर गया और मैं उन्हें अपनी प्रतिक्रियाएँ लिखकर भेजने लगा। दुष्यंत वैसे माने तो प्रगतिशील खेमे के ही जाते थे पर कैंडर कवि बनने पर वे शायद ही कभी राजी हुए। सामूहिक लोकजीवन के अनुभव ही उनके कवि के अपने अनुभव हुआ करते थे। उनका मिसरा भी था—'मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूँ।' मध्य प्रदेश के भाषा-संचालनालय की सरकारी नौकरी में रहते हुए भी उसी मुख्यमंत्री द्वारिका प्रसाद मिश्र की नाक के नीचे, 'ईश्वर को सूली' नाम से कविता न केवल लिख कर बल्कि छपवा कर उन्होंने संतोष महसूस किया था। कविता सीधे-सीधे मुख्यमंत्री को टारगेट कर रही थी।

सब जानते हैं दुष्यंत के दोस्तों में कमलेश्वर, मार्कंडेय मोहन राकेश और राजेंद्र यादव हुआ करते थे। दुष्यंत की चेतना आपातकाल से पूर्व उठे तूफ़ान का अनुभव कर व्याकुलता से भर उठी थी और तभी वो नई कविता के अति विशिष्ट भद्र मार्ग को छोड़ ग़ज़लों की ओर चले आए, इस बात की परवाह तक न करते हुए कि दोस्तों की मंडली क्या कहेगी। यह एक ख़तरा-सा भी था क्योंकि ग़ज़ल का रास्ता इतना सुगम भी कहाँ था। वहाँ सिर्फ़ काव्यानुभव नहीं उससे भी कहीं ज्यादा 'कहन का शिल्प' देखा जाता है। शायरी की तहजीब में इसे ही 'अंदाज़े-बयाँ' कभी-कभी अदायगी भी कह दिया जाता है। इसलिए ग़ज़ल लिख पाना तो आसान मान लिया जा सकता है पर 'कह पाना' सचमुच एक कठिन चुनौती है। इसीलिए यह सबसे सधती भी नहीं और इसे अपने जैसे-तैसे अनुभवों की मुट्ठी में कर पाना भी कठिन है।

दुष्यंत की रचनावली करते हुए मैंने पाया कि उन्होंने चौहतर

से पहले भी दो-तीन ग़ज़लें कह डाली हैं।

इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि दुष्यंत की चेतना में ग़ज़ल कहीं थी ही नहीं। उनकी विद्रोही रोमानी तबीयत, उनका हरफ़न मौलापन, उनका दुस्साहसीपन साथ ही ज़िंदगी के तयशुदा दायरों को तोड़-ताड़ कर जीने वाला उनका मन, वह चकित कर डालने वाली बेख़ौफ़ी उन्हें सीधे-सीधे ग़ज़लों की ओर ले आई। अन्य लोग ख़तरों को सामने देख या तो रास्ता बदल निकल लेते हैं या फिर घुटने टेक देते हैं। दुष्यंत को उनसे आँखें चार करने और आँखों में आँखें डाल बात करना और मौक़ा आ ही जाए तो पंजा लड़ाना भी खूब आता था।

'सूर्य का स्वागत' (1957) जैसा संग्रह लिखकर चर्चा में आना, फिर 'आवाज़ों के घरे', 'एक कंठ विषपायी' (काव्य-नाटक), 'जलते हुए वन का वसंत' लिख चुकने पर 'साए में धूप' की ग़ज़लों की तरफ़ आना आम पाठक के लिए भले ही अप्रत्याशित हो पर उन्हें ठीक से जानने वालों के लिए बिल्कुल ही अचंभे की बात नहीं थी। इतना तो वे लिखते-लिखते समझ ही चुके थे कि नई कविता इतनी नई हो चुकी है कि विशाल लोकजीवन तक उसकी आवाज़ अब नहीं ही पहुँच पा रही है। इतना ही क्यों, वह अपने पाठकों से बुद्धि-रस और सह-अनुभूति की माँग करने पर उतर आई है। कविता और उसके शब्दों से आम सहृदय का कोई वास्ता जैसा नहीं बच पा रहा है। कवि तो विशिष्ट हो ही उठा है कविता भी उसकी अतिविशिष्ट हो गई है। उज्जैन के टेपा सम्मेलन (1 अप्रैल, 1975) में उन्होंने यह मज़ाक़िया शेर भी कह सुनाया—

उस नई कविता पे मरती ही नहीं हैं लड़कियाँ/ इसलिए इस अखाड़े में नित ग़ज़ल गाता हूँ मैं।

दरअसल वे चाहते थे कि कबीर-सूर, मीरा-तुलसी की तरह भले ही उनके शब्दों में वैसी जादुई लोकव्याप्ति न आ सके तब भी वह 'भारत-भारती', 'जयद्रथ वध', सुभद्रा कुमारी चौहान और दिनकर की तरह किंचित उस लोक तक पहुँच सके जो, पाठक नहीं, सिर्फ़ श्रोता मात्र है। इस धारणा के क़ायल वय में उनसे वरिष्ठ और विशिष्ट कवि भवानी प्रसाद मिश्र भी थे जो 'दूसरा सप्तक' के पहले कवि होकर भी ठाठ से कवि-सम्मेलनों में जाया करते और कविता की श्रव्यता को अनिवार्यतः महत्वपूर्ण मानते थे। दुष्यंत भी इसी ख़्याल के आदमी थे। मैं उनकी ग़ज़लों की ओर ऐसा खिँचा जा रहा था कि ख़त लिखे बग़ैर नहीं रह पाता। जवाब भी उनका आता ही। ग़ज़लें उनकी सबसे पहले 'कहानी' पत्रिका, 'सारिका' (सं.-कमलेश्वर) में छपी और तत्काल बाद 'धर्मयुग' में। 'अंधा युग' और 'मुनादी' जैसी कविताओं और 'गुनाहों के देवता' जैसे उपन्यास के यशस्वी लेखक धर्मवीर भारती इसके संपादक थे। ये तीनों ही इलाहाबाद के हिन्दी विभाग के हीरे थे जिनकी आभा और कौंध से बासी पड़े शब्दों के चेहरे नए सिरों से हरे-भरे हो रहे थे। तीनों की दृष्टियाँ जो कि थोड़ी-बहुत या कहीं कुछ-कुछ ज़रूर भिन्न थीं पर एक-दूसरे की प्रतिभा का खुलकर स्वागत करने में कोई किसी से पीछे नहीं था।

मैं जब भी भोपाल जाता दुष्यंतजी से मिलने का आकर्षण मुझे जवाहर चौक-भोपाल वाले उनके क्वार्टर तक खींच ही ले जाता जिसमें दुष्यंत की ग़ज़लें लिखी गईं और उनकी साँसों ने भी अपना अंतिम सफ़र यहीं इसी क्वार्टर में पूरा किया था।

निजी कारणों से मुझे भोपाल जाना पड़ा तत्कालीन शिक्षा मंत्री से मिलने पर वह कहीं दौरे पर थे। भेंट नहीं हो पाई। तब सोचा चलो दुष्यंतजी से ही मिलते हैं। जवाहर चौक उनके क्वार्टर 69/8 पहुँचा तो कहा गया, यहीं सिगरेट बग़ैरह के लिए चौराहे तक

गए होंगे। दस कदम पर ही तो चौराहा था। गया तो लुँगी-कुरते में थे और पानवाले से सिगरेट खरीद उसे जला रहे थे। मुझ पर निगाह पड़ी तो पूछा, “कैसे आए विजय बहादुर।”

“कुछ काम से आया था। सोचा आप से भी मिलता चलूँ।” इसके बाद हम दोनों क्वार्टर की ओर लौटे तो उन्होंने मुझे सड़क पर ही रोका, झपट कर भीतर गए और एक कॉपी लेकर वापस आ गए।

“आज ही गज़ल शुरू की है, देखो कैसी है?”

हम दोनों उसी सड़क पर चहलकदमी करते हुए किसी और ही दुनिया में चले गए। शेर की कुछ ऐसा था—

भूख है तो सब्र कर रोटी नहीं तो क्या हुआ
आजकल दिल्ली में है जेरे बहस ये मुद्दा।
इस अँगूठी को गली के मोड़पर रख दीजिए
जब तलक जलती नहीं है तब तलक देगी धुँआ।
(बाद में इस दूसरे शेर को यह रूप दे दिया) —
इस अँगूठी तक गली से कुछ हवा आने तो दो
जब तक खिलते नहीं, ये कोयले देंगे धुँआ।

इन दोनों शेरों पर ध्यान दें तो जेरे बहस मुद्दा, सब्र कर ठेठ पारंपरिक उर्दू शायरी से चलकर आए हैं पर अँगूठी, गली का मोड़, धुँआ और इनसे निर्मित बिंब तो शुद्ध रूप से नई कविता की संवेदना वाले इलाक़े से चलकर आ रहे हैं। दुष्यंत की गज़लों की इस विशिष्ट अद्वितीयता को समझे बग़ैर उनके सृजन के सौंदर्य को समझा नहीं जा सकता। पर यह कोई सांस्कृतिक घाल-मेल नहीं है। भारत की रहन-सहन का एक सहज स्वभाव है। रेख़्ता जिसमें ग़ालिब या मीर लिख रहे थे वो भी तो यही है।

शलभ कहा करता था— गज़ल तो गज़ल है हिन्दी क्या उर्दू गज़ल क्या सोचने की बात है जब पायजामे और पैट, टाई और क्रमीज़ को हम हिन्दू विशेषण लगा कर नहीं पहचानते तब हिन्दी गज़ल क्यों? गज़ल तो गज़ल।

दुष्यंत हिन्दी गज़ल नहीं लिख रहे थे सिर्फ़ गज़ल लिख रहे थे। उन्हें रवायती गज़ल कितनी मस्क थी, कह पाना तो कठिन है। फिर भी समकालीन (उर्दू) गज़ल की दुनिया के प्रति वे बाक़ायदा बाख़बर थे लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि मूलतः वे हिन्दी की नई कविता के कवि थे (गज़लों का तो उनका बस एक संकलन (दीवान) है। इसलिए केवल गज़ल के शायर के रूप में उन्हें पहचानना उनकी गतिशील प्रतिभा के प्रति अपराध करना ही कहा जाएगा। हिन्दी के एक उल्लेखनीय कवि होकर भी वे गज़लों की ओर आए तो उसी थाती के साथ आए। जहाँ ज़रूरत पड़ी रवायती गज़ल से भी उन्होंने ले लिया, जहाँ गुंजाइश दिखी नई कविता से भी लेकिन सलीके और समझदारीपूर्वक ले लिया। द्विवेदीजी यही तो कह रहे हैं—‘अशोक के फूल’ में। दुष्यंत के गज़लगो को होने का यही रहस्य है। इसी ने उन्हें दोनों परंपराओं की संयुक्त थाती सौंपी या उन्होंने खुद आगे बढ़कर एक उत्तराधिकारी की तरह उसे ग्रहण कर लिया। आपस में मुठभेड़ की मुद्रा में जब-तब खड़ी हो उठती दो सामाजिकताएँ गज़ल जैसी विधाओं के प्लेटफ़ॉर्म पर सब कुछ भूल-भाल कर अगर एक साथ आ खड़ी हो सकती हैं तो कितना खूबसूरत है। यह भी तो एक संभावना बनती ही है न। गज़ल हो, क़व्वाली हो, नृत्य और संगीत हो, क्या ये दोनों जातियों के मिलन-स्थल नहीं हैं? बहरहाल दुष्यंत ने प्रसाद, निराला, त्रिलोचन शास्त्री और उर्दू रवायत से पूरी तरह वाकिफ़ शमशेर से बिल्कुल अलग जाकर अपना रास्ता चुना और उसे एक नया और महत्वपूर्ण प्रवर्तन दिया जिसमें चौहत्तर-पचहत्तर

को राजनैतिक उथल-पुथल उर्दू की तरक्कीपसंद शायरी-मजाज़, अली सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी आदि का रंग लेकर अपना एक अलग ही वातावरण तैयार किया। इसमें कविता और आंदोलन की यारी और संगत भी थी, इससे पार जाकर काल-विशेष के घेरे से मुक्त हो सकने की क़वत भी।

गज़ल की ओर न तो वे शौकिया तौर पर आए थे न शौक पूरा करने के लिए रच ही रहे थे उसे। सच तो यह कि वह उनके जीवन और मरण का प्रश्न बनकर आई थी। इसीलिए उसमें कला भले ही कम हो पर जीवन इतना अधिक था कि ज़माना दुष्यंत दुष्यंत करने ही नहीं लगा दुष्यंतमय हो भी गया।

शमशेर ठीक ही कह गए कि हिन्दी कवियों में किसी से गर कुछ नया हो सका तो वह दुष्यंत ही कर पाए। ताज़ भोपाली साहब से एक बार बात करते हुए जब मैंने जिज्ञासा की, गज़ल आपको कैसी लगती है तो विदिशा के रेलवे प्लेटफ़ॉर्म पर गाड़ी पकड़ने के लिए चलते हुए वे ठमक से गए और कहने लगे, “डॉक्टर वो तो कमाल हो गया।” लेकिन कैसे मेरे इस सवाल का समाधान करते हुए उन्होंने कहा, “क्योंकि क्लासिकल गज़ल की पूरी विरासत को वो नहीं जानता था। हम तो उसी के आतंक में मर गए डॉक्टर।” उनका जवाब मुझे यह सोचने पर मजबूर कर रहा था कि क्लासिक अपनी जगह प्रणम्य है पर उसी को अपनी पहचान बनाए चलना उसकी मंशाओं के प्रति अज्ञानता भी कम नहीं है। तब तो संस्कृति की सारी यात्राएँ थम ही जाएँगी। क्लासिक की अपनी रवायतें अपनी जगह और प्रतिभाओं के अपने अनुभवों की माँग अपनी जगह। ऐसा न होता तो मियाँ ग़ालिब को अपनी सफ़ाई में यह क्यों कहना पड़ता—

बक़द्रे-शौक नहीं ज़फ़्ते-तंगनाए-गज़ल

कुछ और चाहिए वुसूअत मीरे बयाँ के लिए।

ऐसा भी नहीं कि गज़ल के शास्त्र को लेकर ग़ालिब कुछ कम जानते थे पर इससे कहीं ज्यादा वे अपने समय, उसके अनुभवों और शायरी की ज़रूरतों के बारे में कुछ ज्यादा जानते थे।

जानता हूँ, दुष्यंत ग़ालिब नहीं हैं पर वे दुष्यंत तो हैं और इसी रूप में याद भी किए जाते रहेंगे। दुष्यंत और शलभ के अलावा एक जो तीसरा चर्चित नाम मेरे आकर्षण का केंद्र बना वह अदम गोंडवी थे।

अदम तो नाम में ही गोंडवी लगाए बैठे हैं, सरयूपार का ज़िला। इस ओर फ़ैजाबाद उस ओर पूरब बस्ती-गोरखपुर तो पश्चिमोत्तर में ज़िला गोंडा। इसी ज़िले के आटा परसपुर में अदम एक मामूली ठाकुर परिवार के बेटे थे। ठाकुर तो ख़ैर श्रीराम सिंह यानी शलभ भी थे पर इन जातियों में कवि का पैदा हो जाना कोई शुभ लक्षण तो नहीं माना जाता। इससे बेहतर माना जाता है पुलिस कप्तान, ज़िलाधिकारी और कुछ नहीं तो तहसीलदार या फिर थानेदार। पर ज़माना बदलता भी है, सोच बदलती है। काम के क्षेत्र बदल जाते हैं। पर अदम ने यह किया ज़रूर फिर भी गाँव और खेती-बाड़ी से अनपहचान बनाकर नहीं।

शलभ की विद्रोही रोमानी शायरी, दुष्यंत का रवायत से बाहर लाकर उसे नए वातावरण में ढालना अपनी जगह और अदम का उसे किसान की मेहनत, पसीना, कुदाल और फावड़े को नीचे की ज़मीन के पास ले आकर खड़ा कर देना इसलिए संभव हो पाया कि अदम उसे सचमुच जी रहे थे। ऐसा न होता तो वे अपनी पहचान के लिए यह शेर कभी न कहते—

फटे कपड़ों में तन ढाँके गुज़रता हो जहाँ कोई

पृष्ठ 19 पर जारी...

● चार गज़लें : रामदरश मिश्र



जन्म : 15 अगस्त, 1924 (गोरखपुर)।
हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार। लगभग 60
पुस्तकें कविताओं, कहानियों, समीक्षात्मक
आलेखों, उपन्यास, ललित निबंध, बाल
साहित्य आदि पर प्रकाशित। साहित्य
अकादेमी पुरस्कार सहित कई महत्वपूर्ण
पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : दिल्ली
विश्वविद्यालय से प्रोफेसर पद से वर्षों पहले
सेवा मुक्त।

(1)

कहा ज़मीन से, “माँ मेरे खुले पगों को
प्यार दे”
कहा डगर से, “खुद को मेरे जिस्म में
उतार दे”

चला बहुत तो रुक गया किसी शजर की
छाँह में
कहा कि मुझ थके को ओ पिता तनिक
बयार दे

लगा कि वक्रत पूछता रहा है कामना मेरी
कहा उसे कि आदमी बना रहूँ विचार दे

सदा-सदा ही भीड़ बीच बैठना भला लगा
डरा रहा कि मंच ना कहीं मुझे पुकार दे

कहा हयात ने, “न माँग दीन हो किसी
से कुछ
अदब से कह कि दिल में मेरे प्यार की
बहार दे”

क्रार देके दूसरों को बेक्रार जो रहे
खुदा है मेरी इल्तजा उन्हें ज़रा क्रार दे।

(2)

रुके तुम हो लेकिन समय चल रहा है
निरंतर नए रंग में ढल रहा है

फलों के गुज़रने का दुख है न तरु को
वो फिर-फिर नए जोश से फल रहा है



गए थम हो डरकर अँधेरे से पथ में
मगर देखो कोई दीया जल रहा है

हो खोए अभी तक पुराने दिनों में
नशा उनका चुपचुप तुम्हें छल रहा है

तपिश है बहुत रास्ते में सफ़र के
मगर देखो हर तरफ़ विजन फँस रहा है

है सच कितनी आँखों में तम नाश का,
पर दृगों में कई नव सृजन पल रहा है

शिशिर की उदासी में डूबे हो घर में
बजा कबसे मधुमास साँकल रहा है।

(3)

थकी उमर मगर अभी जुड़ी पगों से राह है
जिया बहुत मगर अभी-भी ज़िंदगी की
चाह है

खिले हैं फूल रंग-रंग के यहाँ-वहाँ अमिट
अभी-भी उनमें तितलियों-सी नाचती निगाह है

अभी-भी देखता है मन जो फागुनी शबाब को
लगे है उसको रंगों संग खुशबुओं का ब्याह है

अभी-भी आ रहा चला
कहाँ-कहाँ से दर्द-दिल
क्रलम से उसकी माँगता-सा
लग रहा पनाह है

हँसी किसी की हो लगे है उसको अपनी
ही हँसी
किसी के आँसुओं का स्वर लगे कि अपनी
आह है

बना मिटा रहा है एक दल अदब को
खेल में
बचा वही जो खुद में खुद रहा,
समय गवाह है

बचे से दिन की रोशनी को जी रहा है
प्यार से
पता है उसको बाद इसके तो तिमिर अथाह है।

(4)

जिगर से अधिक जिस्म प्यारा न होता
तो जग में हमारा-तुम्हारा न होता

खुदा तूने दी होती रहमत सभी को
तो कोई मुसीबत का मारा न होता

शिला बन गया होता मैं ओ दिशाओं
सफ़र हेतु तुमने पुकारा न होता

बड़ी से बड़ी मिल गई होती मंज़िल
अगर राही तू खुद से हारा न होता

न कोसो निशा को अगर वह न होती
तो सुंदर सुबह का नज़ारा न होता

अगर दर्द दुनिया का बनता न मेरा
मेरा गीत इतना आवारा न होता। □

● चार गज़लें : रामकुमार कृषक



जन्म : 1 अक्टूबर, 1943 अमरोहा (उत्तर प्रदेश)। गीत और गज़ल विधाओं में विशेष योगदान। विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक संगठनों में हिस्सेदारी। कविता और कहानियों की लगभग 20 पुस्तकें प्रकाशित। कई प्रमुख पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : स्वतंत्र रूप से लेखन और 'अलाव' पत्रिका का संपादन।

(1)

पूछो मत क्या दशा हमारी की कोरोना ने
हम अछूत कर दिए विप्रवर्णी कोरोना ने

है अदृश्य वरना हम उसको गले लगा लेते
हाथ जोड़ना सिखा दिया फिर भी कोरोना ने

क्या परिजन क्या पास-पड़ोसी दूर
रहो सबसे
नई 'नसीहत' यह भी हमको दी कोरोना ने

चोर नहीं तो लंपट उसको कहना ही होगा
कोशिश की है घर-घर घुसने की कोरोना ने

ऐटम बम सब रखे हुए हैं दुनिया देख रही
जंगजुओं से ही छीनी बाज़ी कोरोना ने

ताले सभी इबादतगाहों तक में डलवाए
गाज़ी कहना ठीक नहीं, पाज़ी कोरोना ने

हाकिम कहें-कहें या जेलर है
कुछ नस्त नई
घर को घर में क़ैद किया नाज़ी कोरोना ने।

(2)

बरखा में हम सूख रहे हैं और धूप में
भीग रहे
मौसम आँख तरे रहा है पाठ नए
कुछ सीख रहे
जितने पाँव पसारे हमने चादर सिकुड़
गई उतनी
उतनी ही बेहाल हुई यह धरती लच्छन
दीख रहे



देश नहीं, दुनिया ने हमको सिर्फ़ बड़ा
बाज़ार कहा
अक्सर ठगे गए हैं उनसे जिनके हम
नज़दीक रहे
रोज़-रोज़ की क़िल्लत मारा-मारी क्या कुछ
नहीं सहा
तो भी कैसे कहें कि कल से बेहतर अब
दिन बीत रहे

हमने ग़ज़लों को ग़ज़लों के ख़ानदान से
अलग किया
शायर तो कुछ ख़ास नहीं हैं फिर भी सहज
अलीक़ रहे।

(3)

आँख मलते हुए हम उठे तुम उठे अब
उठाकर भी अपनी नज़र देखिए
रातभर स्वप्न में जो रहे देखते देखिए तो
ज़रा ये सहर देखिए

अब उठे हो तो उठकर टहल लो ज़रा
अपनी सेहत की सेहत की चिंता करो
घंट-घड़ियाल जागे अज़ानें जर्गी दूर जागा
है कोई ग़जर देखिए

धुँध है धुँध के पार फिर धुँध है धुँध के
पार लेकिन खड़ी दिनकरी
पंख खोले पखेरू उड़ें उड़ चले गा रहे ला
रहे खुश ख़बर देखिए

बाँजवन वो बुराँसों के बिरवे सघन चीड़ के
जिन दरख़्तों ने बेदम किए
देखिए उनकी जड़ में कहाँ कौन है फिर
इरादों के ऊँचे शिखर देखिए

कुछ नहीं ना सही हाथ हैं पाँव हैं जिनमें
ताक़त हुनर और रफ़्तार है
वक्रत बंजर भले दूर तक दूर तक अपने
अंदर उगे कुछ शजर देखिए

यंत्र के तंत्र के हाथ है सभ्यता इसकी
अट्टालिकाओं में घर ही नहीं
मक्खियों ने शहद की अजूबे रचे
चींटियों के बया के भी घर देखिए

काल से होड़ करते हुए जो गए उनके जाने
का कोई गिला ही नहीं
लोक के हाथ में ही तो परलोक है अब
इधर देखिए या उधर देखिए।

(4)

सुबह से चल रहे हैं चल रहे हैं शाम की
खातिर
मगर चलते नहीं हैं हम महज़ व्यायाम की
खातिर

कई मौसम जिए हमने चमन भी कम नहीं
घूमे
लहू के घूँट पर भूले नहीं हैं जाम की
खातिर

रंगें रौशन अभी तक हैं महकता है
पसीना भी
किए हैं काम जो हमने नहीं थे नाम की
खातिर

रहे लंका में हम बेशक अयोध्या भी रही
मन में
रथी होकर नहीं निकले तभी तो राम की
खातिर

कटाए सिर जिन्होंने हम उन्हीं की राह के
राही
झुकाकर सिर नहीं गुज़रे
अलग अंजाम की खातिर। □

संपर्क : मो. 9868935366, ई-मेल : alavpatrika@gmail.com

● पाँच गज़लें : विज्ञान व्रत



जन्म : 17 अगस्त, 1943 (मेरठ)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में गज़लें, दोहे, बालगीत लेखादि प्रकाशित। लगभग 10 पुस्तकें प्रकाशित। दूरदर्शन और आकाशवाणी पर रचनाओं का गत 40 वर्षों से नियमित प्रसारण। कई महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित। चित्रों की 39 एकल प्रदर्शनियाँ देश-विदेश में प्रदर्शित।

(1)

खामुशी मेरी ज़बाँ है
वो मगर सुनता कहाँ है

सामने हैं आप लेकिन
आप तक रस्ता कहाँ है

जानता हूँ दुश्मनों को
फिर मुझे खतरा कहाँ है

छोड़िए भी मुस्कुराना
दर्द चेहरे से अयाँ है

ढूँढ़ना क्या है तुझे अब
मैं जहाँ हूँ तू वहाँ है।

(2)

वो मेरा चेहरा न हुआ
मैं भी शर्मिदा न हुआ

उसका मैं हिस्सा न हुआ
मुझको ये धोखा न हुआ

सब उसका सोचा न हुआ
वो मेरा रस्ता न हुआ

जब उसकी भाषा न हुआ
तो मेरा चर्चा न हुआ

होने को क्या-क्या न हुआ
मैं ही बस अपना न हुआ।

(3)

उसने अपना घर क्या बदला
बस्ती का ही नक्शा बदला
रोज़ाना इक चेहरा बदला
यानी वो फ्रैशन-सा बदला

उसने अपना लहजा बदला
मैंने अपना रस्ता बदला
अरसे बाद मिला हूँ खुद से
सब लगता है बदला-बदला

भूल चुका हूँ दुश्मन को ही
फिर क्या बदला कैसा बदला

(4)

कुछ दिन बे-पहचान रहूँ
अपना चेहरा किसको दूँ

और उन्हें अब क्या लिखूँ
ख़त में खुद को ही रख दूँ

खुद को कुछ ऐसे छेदूँ
जैसे कोई नगमा हूँ

इक अंकुर-सा रोज़ उगूँ
और फ़सल-सा रोज़ कटूँ

अब उनकी तस्वीर बनूँ
खुद को फिर तहरीर करूँ

पहले खुद से तो निबटूँ
फिर इस दुनिया को देखूँ

शाम को जितना घर लौटूँ
ये समझो बस उतना हूँ।

(5)

मैं ठिकाना था कभी
वो ज़माना था कभी

आप मेरी जान थे
ये न जाना था कभी

अब हकीकत हूँ यहाँ
इक फ़साना था कभी

मैं अगर नाराज़ था
तो मनाना था कभी

आपका हूँ या नहीं
आज़माना था कभी।

□

संपर्क : मो. 09810224571, ई-मेल : vigyanvrat@gmail.com

गज़ल के गाँव...

पृष्ठ 16 से आगे

समझ लेना वो पगडंडी अदम के गाँव जाती है।

यह गाँव प्रेमचंद में तो केंद्रीय कथा-वस्तु बना बैठा ही है, नागार्जुन और रेणु में भी कहाँ कम है। अदम के लिए तो यह गाँव उनकी नियति भी था, ग्रामगीनी भी। उनकी चिंता और उससे पैदा हुआ क्षोभ और आक्रोश भी। व्यवस्था से-गाँवों की लड़ाइयों में ये ही सब उनके वकील थे।

यों अदम की निगाह उस पूरे समकाल पर भी आ-जा रही थी जिसे वो जी रहे थे। ज़रूरत पड़ने पर वे गाँधी-मार्क्स यहाँ तक कि ओशो तक भी गए पर उनकी वैचारिक निष्ठा का धागा तो केवल मार्क्स से जुड़ा था पर वे वह अभिजातवादी मार्क्सवाद नहीं ही लिख रहे थे जिसमें हुनरमंदी तो काफ़ी थी पर ऊष्मा और तेज थोड़ा कम। अदम की गज़लों को नंगी सच्चाइयों से जुड़े

अनुभवों ने इतना नंग-धड़ंग कर डाला है कि सौंदर्य के प्रतिमानों के उस मानदंड के लायक बचती ही नहीं जिसमें 'गुप्तगू' को ही खूबसूरती माना जाता है। वे गला फाड़ चिल्लाती ही नहीं, काफ़ी शोर-शराबा भी उठाती हैं। कहीं हल्ला-बोल तेवर वाली गज़लें। कविवर भवानी भाई की कविता की पंक्तियाँ याद आ रहीं— 'अगर गा न पाए तो हल्ला करेंगे। इस हल्ले में मौत आ गई तो मरेंगे'। दुष्यंत ने गज़ल को शहरी मिजाज दिया तो अदम ने उसे ठेठ गाँवई अंदाज़ बग़ैर लाग-लपेट वाला।

मात्र संयोग! एक मामूली हिन्दी कविता आदि के आलोचक का इस तरह के अवसरों को पा जाना यद्यपि उसकी योग्यता तो नहीं मानी जा सकती किंतु उसका सौभाग्य तो माना ही जाएगा।

□

● पाँच गज़लें : राम मेश्राम



जन्म : 20 दिसंबर, 1946 (मध्य प्रदेश)।
समकालीन हिन्दी गज़ल के प्रमुख
गज़लकार। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में
रचनाएँ प्रकाशित। गज़ल-संग्रह 'शोलों के
फूल' को अंबिका प्रसाद 'दिव्य' पुरस्कार
तथा प्यारेलाल गुप्त पाठ सम्मान।

(1)

एक पागल की चाह है दुनिया
दिलजले की कराह है दुनिया

जाहिलों से तबाह है दुनिया
शातिरों की निगाह है दुनिया

एक भी शख्स तो मिले बेग़म
जाने किस ग़म की आह है दुनिया

कामचोरों के वास्ते जन्मत
सिर्फ़ आरामगाह है दुनिया

लीडरों, मत डरो, बढ़ो आगे
आपकी ख़ैरख़्वाह है दुनिया

सुख़ जागीर है दबंगों की
स्याह नागिन की डाह है दुनिया

आख़िरी बार यार हँसने दे
आज तुझ संग निकाह है दुनिया

मानिए या ना मानिए मामू
नेक नीयत सलाह है दुनिया

नाचता हूँ मैं, उम्रभर तनहा
क्या मेरी ख़ानकाह है दुनिया?

(2)

हर ओर लूटमार, ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं
दिल आज भी फ़रार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

पैरों तले ज़मीन तो कब की खिसक चुकी
बिल्कुल हवा में यार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

तड़पे अजब गुहार-सी भीतर कोई सदा
बाहर बहारदार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

दर पर खड़ी है मौत 'मेरे संग चल अभी'
सर पर जुनूँ सवार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

अपनी ख़ला के ख़ौफ़ से खा-खा के
खुदफ़रेब
खुद पर फ़िदा हूँ यार फ़रेब ग़ज़ल कह
रहा हूँ मैं

कविता से बेनियाज़ टपोरी समाज में
खौफ़ोख़तर के पार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

मर ही गई कि मार दी शोहरत के नाम पर
वह शर्म जिसपे यार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

चोरी से शेर मिल नहीं पाए तो लूट से
हड़पे नए विचार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

आंबेडकर का, बुद्ध का, भूषण-कबीर का,
किसका नहीं उधार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं

मेरी ग़ज़ल की धार पे यारों का जोरदार
हँगामा बरकरार ग़ज़ल कह रहा हूँ मैं।

(3)

घोर काली घटा सावनी है
भारी बारिश की चेतावनी है

हाय! पेड़ों पे सावन के झूले
सारा माहौल वृंदावनी है

यार भादो की हरियल हरात
मेघमाला की रणछावनी है

कौन-सी बूँद पर जान रख दूँ
सारी रिमझिम ही मनभावनी है

आप कहते हैं, गंगा अभी भी
पापियों की पतित-पावनी है।

(4)

छिपती नहीं सागर में काले की मुहब्बत
काली है बहुत, चाहने वाले की मुहब्बत

काली है ये दौलत तो फ़क़त मेरे लिए है
आगे भी है स्विस् बैंक के, ताले की मुहब्बत

खिंचती है मेरे पारानुमा मन में मुसलसल
ऐ यार, निराले ही निराले की मुहब्बत

सादे के सरोकार में आधा है ज़माना
लज़्ज़त है अरी चाट-मसाले की मुहब्बत

मैं ही तो सही और इसी राग से मन में
उठती है अहंकार के जाले की मुहब्बत

मुर्दार, तेरे वास्ते किस काम की दुनिया
ज़िंदा के लिए ही है निवाले की मुहब्बत

वैसे भी नए साल में होता है नया क्या
होती है अँधेरे से उजाले की मुहब्बत।

(5)

बात है ही ऐसी कि आप अन्यथा लेंगे
आप मेरी ग़ज़लों को छापने का क्या लेंगे?

लेन-देन की दुनिया, इसमें क्या बुराई है?
सिर्फ़ कान में कह दें, क्या-क्या जाहिरा लेंगे?

जंग बारहमासी है, राजनीति है ही क्या,
हम कटा के सिर अपना, ताज तो सजा लेंगे

कौन किसका दुश्मन है राजनीति में जानम
हम भी कल के 'बागी' को आज फिर
पटा लेंगे

राम यूँ अलापा है आपने वो मज़हब का
आप हर बिरादर को एकदम पटा लेंगे

बहुत बड़ा भारत है, जुर्म क्यों नहीं होंगे
न्याय करें बेखटके, आगे हम सँभालेंगे

आत्महत्या करते हैं आप जिनकी खातिर वो
आपकी शहादत का उम्र भर मज़ा लेंगे

एक नतीजा है सत्ता के क़सीदों का
आज आप गद्गद हैं, कल को बददुआ लेंगे

नीम-बाज़ ग़ज़लों के हस्र से हूँ वाकिफ़ मैं
आप इन्हें कूड़े में जाने से बचा लेंगे? □

संपर्क : मो. 09424400130, ई-मेल : rammeshram1946@gmail.com

हिन्दी ग़ज़ल में युवा ग़ज़लकारों की उपस्थिति

ज्ञानप्रकाश विवेक



जन्म : 30 जनवरी, 1949 । बहादुरगढ़ (हरियाणा)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। 28 पुस्तकें प्रकाशित। बाबू लाल मुकुंद गुप्त सम्मान से सम्मानित। वर्ष 2014-15 में संस्कृति मंत्रालय द्वारा हिन्दी ग़ज़ल पर सीनियर फ़ेलोशिप प्राप्त।

हिन्दी ग़ज़ल का अवतरण उर्दू ग़ज़ल से हुआ है। यह एक साहित्यिक घटना थी जो एक दिन में घटित नहीं हुई, रफ़ता-रफ़ता हुई। ग़ौरतलब है कि उर्दू से जब देवनागरी लिपि में ग़ज़ल आई तो वो अकेले नहीं आई। वो अपना सौंदर्य शास्त्र तो लाई ही, परंपरा, अंदाज़े-बयाँ के अतिरिक्त, ग़ज़लगोई के बहुत सारे तत्व भी अपने साथ लेकर आई। इस दृष्टि से देखें तो ग़ज़ल जैसी सिन्फ़ ने हिन्दी ग़ज़लकारों से बहुत सारी सुविधाएँ भी मुहैया कराई। हिन्दी ग़ज़ल के शुरुआती दौर में उर्दू ग़ज़ल का प्रभाव साफ़ तौर से देखा जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र 'रसा' और शमशेर बहादुर सिंह की ग़ज़लों में उर्दू ग़ज़ल का लबो-लहजा शामिल है। कह सकते हैं कि उर्दू ग़ज़ल ने, हर दौर में हिन्दी ग़ज़ल को प्रभावित किया है।

निराला, त्रिलोचन, जयशंकर प्रसाद और शमशेर बहादुर सिंह ने जहाँ बहुत सशक्त ग़ज़लें लिखीं, बिल्कुल वहीं, इस बात का एहसास भी बड़ी शिद्दत से कराया कि देवनागरी लिपि में ग़ज़ल लिखना, हिन्दी-काव्य को समृद्ध करना है। ग़ज़ल लिखना कोई दौलत दर्जे का काम नहीं।

इन ग़ज़लकारों ने ग़ज़लें बेशक लिखीं, लेकिन हिन्दी ग़ज़ल में संपूर्ण चेतना के साथ हस्तक्षेप पैदा किया दुष्यंत ने। दुष्यंत ने अपने खास तरह के लबो-लहजे, उर्दूपन, चौंका देने वाले ग़ज़ल कथन के अतिरिक्त मारक शब्दावली और चेतना तक उतर जाने वाले मुहावरे के साथ ग़ज़लें लिखीं। ग़ज़लें क्या लिखीं कि हिन्दी भाषा में ग़ज़ल के लिए नए दर खोले।

दुष्यंत के प्रतिवादी स्वर को हिन्दी ग़ज़ल ने खूब अपनाया और प्रतिवाद हिन्दी का प्रमुख स्वर बन गया। शलभ श्रीराम सिंह की क्रांतिकारिता और अदम गोंडवी के फक्कड़ और देहातीपन के रुझान ने अपनी एक नई ज़मीन तलाश की लेकिन हिन्दी ग़ज़ल पर जो असर दुष्यंत की ग़ज़लों का रहा, वो बेमिसाल था।

दुष्यंत के बाद खूब ग़ज़लें लिखी जाती रहीं लेकिन सूर्यभानु गुप्त और हरजीत सिंह की ग़ज़लों ने बिंबों और प्रतीकों के जरिए जो ग़ज़ल कथन को अभिव्यक्ति दी, हिन्दी ग़ज़ल उससे समृद्ध हुई।

दुष्यंत के बाद हिन्दी में लिखने वाले ग़ज़ल लेखकों की प्रशंसा की जानी चाहिए कि उन्होंने हिन्दी कविता की ताक़तवर उपस्थिति के बरक्स, लगभग उपेक्षित-सी ग़ज़ल विधा को कभी मरने नहीं दिया। ऐसे ग़ज़लकारों ने विनम्र भाव से, ग़ज़ल की

क्षीण-सी उपस्थिति हमेशा दर्ज कराई। वो हिन्दी-काव्य में अपनी जगह बनाने में संघर्षशील रहे तो वहीं हिन्दी ग़ज़ल की बाज़ारवादी प्रवृत्तियों से भी ग़ज़ल को बचाने में प्रयासरत रहे। इसका सुफल यह हुआ कि हिन्दी ग़ज़ल ने अपना एक परिसर ही रच डाला और उससे आकर्षित होकर युवा ग़ज़लकार, हिन्दी ग़ज़ल में प्रविष्ट हुए।

देवनागरी लिपि में युवा ग़ज़ल-लेखन अचानक नहीं हुआ। ऐसा नहीं हुआ कि सभी युवा ग़ज़लकार एक ही दिन में हिन्दी ग़ज़लें लिखने लगे हों। (ग़ौरतलब है, हिन्दी ग़ज़ल का सीधा-सा अर्थ है-देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली ग़ज़लें)

युवा ग़ज़ल-लेखन भी उसी तरह हुआ है जैसे हिन्दी कहानी में युवा कहानी-लेखन और हिन्दी कविता में युवा कविता-लेखन।

पिछली सदी के अंत और नई सदी के आरंभ में हमारी जीवन शैली में जिस गति से परिवर्तन हुए हैं, पूरा समाज ही एक नए समाज में बदल गया प्रतीत होता है। नए समाज के नए मनुष्य ने, अपने नए जीवन मूल्यों को गढ़ा है। वो अधिक आत्मकेंद्रित, अधिक लोलुप, अधिक स्वार्थी हुआ है। मनुष्य की चेतना पर तकनीक हावी हुई है और मनुष्य पर बाज़ार।

इन लगभग दो दशकों में एक नए मध्यवर्ग का जन्म हुआ है, जिसे सब कुछ चाहिए। सब कुछ प्राप्त करने की जिज्ञासा ने नए मध्यवर्ग को अधिक निस्संग, अधिक यांत्रिक बना दिया है। इस दशकों में कैरियर, टारगेट, ग्रोथ जैसे शब्दों को अपनी जीवन शैली में उतार चुका यह नया मध्यवर्ग या कहें कि नया मनुष्य, अपनी वर्तमानता में निमग्न, स्मृति-विहीन, आत्मीयता-विहीन और लगभग नैतिकता-विहीन भी है।

हिन्दी कहानी में इसी नए मध्यवर्ग की विडंबनाओं को लेकर कहानियाँ लिखी जा रही हैं तो बिल्कुल वहीं, हिन्दी ग़ज़ल में भी युवा ग़ज़लकारों ने अपने समय की जटिलताओं, मानवीय दुर्बलताओं, अकेले होते मनुष्य की वेदना, स्त्री असुरक्षा तथा बाज़ार के छल को अपनी ग़ज़ल में बड़ी कुशलता और प्रखर चेतना के साथ व्यक्त किया है।

नई सदी के बाद के ये दो दशक, पूरे हिन्दी साहित्य के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं। हिन्दी ग़ज़ल में युवा ग़ज़लकारों ने जिस तपाक से दस्तक दी है, उसने हिन्दी ग़ज़ल में न सिर्फ़ ताज़गी का, ऊष्मा का, तीक्ष्णता का एहसास पैदा किया है बल्कि ठिठक रही हिन्दी ग़ज़ल को गतिशील भी किया है। युवा ग़ज़लकार अपना ग़ज़ल कथन और अपनी ग़ज़ल भाषा लेकर आए हैं। ये युवा ग़ज़लकार,

संपर्क : मो. 9813491654, ई-मेल : gyanpvivek@gmail.com

रेखता से भी प्रभावित हैं। इनके पास समय, समाज और नए यथार्थ को देखने की अपनी दृष्टि, सोच, तसव्वुर है। शेर कैसे कहा जाए, इस प्रश्न के पसेमंजर उनकी बेताबी और व्याकुलता भी महसूस होती है। हिन्दी गज़ल में प्रविष्ट हुए इन युवा गज़लकारों की एक विशेषता यह भी है कि बात मितकथन में, शब्दों की संगीतात्मकता के साथ अशआर में तहरीर हुई है।

ऐसा भी नहीं है कि सभी युवा गज़लकार बहुत सशक्त लिख रहे हों, इन गज़लकारों की भी अपनी सीमाएँ हैं। अनुभवों का कच्चापन और गज़ल की शास्त्रीयता विचलन भी पैदा करती हैं। इसके बावजूद हिन्दी गज़ल में जो निरंतर एक प्रश्न उछलता था कि हिन्दी गज़ल का भविष्य क्या है, तो ये युवा गज़लकार एक तरह से उस प्रश्न का उत्तर हैं।

युवा गज़लकारों की गज़लों/शेरों पर एक दृष्टि—
तमाम तरह के दुख का हवाला देता हुआ
वो हँस रहा है मुझे घर निकाला देता हुआ।

—स्वप्निल तिवारी

शेर में, नए समय का वो नया मनुष्य है जो न केवल निस्संग है, बल्कि अनात्म भी है। शेर में एक घटना घटित हो रही है। यही घटना (या कहें कि विडंबना) एक तबसरे की तरह है।

इक्कीसवीं सदी का मनुष्य सुख की तलाश में निकला था। विडंबना यह रही कि वो सुविधाओं के अम्बार उठा लाया। सौरभ शेखर ने इसी सुविधाभोगी मनुष्य पर क्या खूब तंज किया है—

तन्हाई का तुम्हारी था मुमकिन यही इलाज
घर के हरेक कोने को चीजों से भर दिया।

घर को मालगोदाम बना देने की प्रवृत्ति इधर खूब विकसित हुई है। वस्तुतः यह बाज़ार का छल था, जिसे मनुष्य ने वरदान समझ लिया। इसी पाखंड पर्व को मानता हुआ मनुष्य मंजु कछावा 'अना' के शेर से व्यक्त होता है—

मेरे गुलाब के पौधों में कुछ खराबी है
हरेक शाख पे काँटे ही काँटे उगते हैं।

शेर में प्रतीकों के साथ जिस तरह अंतर्मन की व्याकुलता प्रकट की गई है, वह अर्थवान है।

युवा गज़लकारों ने अपनी शेरगोई में शब्दों का अपव्यय नहीं होने दिया। इसके लिए उन्होंने प्रतीकों और नए मुहावरों में अपने कथन को व्यक्त किया। कथन, भाषा और शास्त्रीयता का जिस परिपक्व अंदाज़ में संतुलन बनाकर रखा गया है, इस सिलसिले में कुछ शेर—

कितना वाजिब मेरी नेकी का नतीजा निकला
मैंने जिस-जिस को पुकारा वही बहरा निकला।

—रजनीश सिंह

मयस्सर है कहाँ अब साफ़ पानी
सभी कीचड़ से कीचड़ धो रहे हैं।

—रामनाथ शोधार्थी

मेरे जुनूँ से हरीफ़ों के पाँव उखड़ते हुए
मैं जान देने के चक्कर में जाँ बचाता हुआ।

—इरशाद ख़ान सिकंदर

हाकिम को मेरी चीख़ सुनाई नहीं देती
आदत है ये अपनी कि दुहाई नहीं देती।

—सरिता सलिल

तुम्हें जिस भरोसे का सर काटना था
हमें उसके दम पे सफ़र काटना था।

—के.पी. अनमोल

इन अशआर को देखें। ये अपने-आप में संपूर्ण कविताएँ हैं। हिन्दी गज़ल में, युवा रचनाशीलता के ज़रिए, विषय विस्तार किस सलाहियत से, विवेक से और नए मुहावरों की आमद से हो रहा है, इस बात का यक़ीनन एहसास होता है। कीचड़ से कीचड़ को धोना-बिलकुल नया प्रयोग है तो भरोसे का सर काटना भी उतना ही नया मुहावरा है। स्त्री व्याकुलता का पाठ कि-हाकिम को मेरी चीख़ सुनाई नहीं देती, यही व्यथा-कथा, स्त्री के जीवन में हमेशा रही है। रजनीश सिंह, नए समय के अनात्म व्यवहार पर सटीक, तबसरा करते हैं—'मैंने जिस-जिस को पुकारा वही बहरा निकला। सिकंदर के शेर में जो 'मैं' नामक किरदार है—'जान देने के चक्कर में जान बचाता हुआ—यह सरफ़िरापन ज़िंदगी का नया ठाठ रचता है।

नई सदी अपने साथ नया समय लेकर आई है। मेट्रो का आना, भाप के इंजन का स्मृतियों में चले जाना, मॉल संस्कृति, पब कल्चर, फ़्लाइओवरों का निर्माण। पगडंडियाँ खो गई। पैदल यात्री लापता हो गए। बेरोज़गारी, ग़रीबी, भूख़ ने अपनी दारुण कथाएँ रचीं तो ऊबे हुए सुखी और अधिक उदास और अधिक अकेले नज़र आए।

युवा गज़लकारों के कुछ शेर इसी लिहाज़ से प्रस्तुत हैं—

मेरे हँसने पे आप मत जाएँ
मेरे रोने का ये तरीका है।

—रामनाथ शोधार्थी

यही होगा न अपने गाँव में कुछ कम कमाएँगे
मगर अब शहर तेरे लौटकर हर्गिज़ न आएँगे।

—अनुज अब्र

चैनलों की अजीब फ़ितरत है
जाने क्या-क्या दिखाते रहते हैं।

—भावना

किस खोज में है शहर के सब लोग न जाने
चेहरे पे उदासी भी है आँखों में थकान भी।

—सौरभ शेखर

इन शेरों से गुज़रते हुए इस बात को महसूस किया जा सकता है कि हर शेर में एक क्रिटिक मौजूद है। पिछली सदी में दुष्यंत के बाद एक लफ़्फ़ाज़ क्रिस्म का विरोध था हिन्दी गज़ल में। व्यवस्था पर आक्रामक प्रहार गज़ल की गज़लियत को क्षीण कर देता था। जिसे तवाज़ुल कहा जाता है वो इन युवा गज़लकारों के प्रतिवाद में महसूस होता है। अनुज अब्र के शेर से बात करते हैं। यह अभी-अभी की घटना है। लॉकडाउन की। मज़दूरों के घर वापस जाने की। मज़दूरों के घर वापस जाते हुए, हाईवे पर पैदल जाते हुए, जैसे वो अपने घर को ही नहीं, अपने दुख से भरे संसार को ही लेकर जा रहे हों। घर बनाने वाले, बेघर होकर जाते हुए। अनुज अब्र का यह शेर, समूचे सिस्टम पर एक तीक्ष्ण टिप्पणी की तरह है। शेर जितना मार्मिक है, उतना कारुणिक! 'मगर अब शहर तेरे लौटकर हर्गिज़ न आएँगे—यह मिसरा एक व्याकुल करती तहरीर है। भावना के शेर में भी एक बेचैनी भरा प्रतिवाद है। सौरभ शेखर ने महानगरीय तहज़ीब के नए बाशिंदों पर यह शेर कहा है, 'आख़िर शहर के लोगों का गुम क्या हुआ है, जिसे वो ढूँढ़ रहे हैं? शायद वो कोई आत्मा जैसी शय है, जिसे वो ढूँढ़ रहे हैं।' रामनाथ शोधार्थी ने शेर में जो द्वंद्व की रचना की है, वो अंतर्मन की तड़प है। शेर संकेतों में है। शेर अर्थवान है।

ऐसा मान लिया गया है कि नया समाज, स्मृतिविहीन एक ऐसा समाज है जिसे अपनी वर्तमानता चाहिए। वो अपने आज को

भरपूर जीना चाहता है। वो कम मनुष्य और अधिक उपभोक्ता हो जाने पर चिंतित नहीं है।

लेकिन हिन्दी गज़ल में प्रविष्ट हुए युवा गज़लकार, स्मृतियों को हर हाल में बचाकर रखना चाहते हैं। इसलिए कि स्मृतियाँ अधिक मानवीय और अधिक संवेदनशील होने देती हैं। कुछ शेर जिनमें स्मृतियों की गूँज है—

पुरानी शाख से एक सब्ज पत्ता टूटकर रोया
मैं अपने गाँव से निकला तो बरगद फूटकर रोया।

—ए.एफ. नज़र

छुरी काँटे से खाता हूँ मगर रहता हूँ भूखा ही
वो माँ के हाथ के सूखे निवाले याद आते हैं।

—पंकज सुबीर

बरगद की जटाओं से वो लिपटा हुआ बचपन
इस जीस्त का हासिल है जीने का सहारा भी।

—अभिषेक सिंह

उपरोक्त शेरों में स्मृतियाँ गूँजती हुई महसूस होती हैं। युवा गज़लकारों ने स्मृतियों को भी किसी जीवित पात्र की तरह अपने शेरों में स्पेस दिया है।...तो प्रेम भी इन युवा गज़लकारों की गज़लगोई में शिद्ध से व्यक्त हुआ है। हिन्दी गज़ल में प्रतिवाद प्रमुख था, प्रेम बहुत कम। हिन्दी में प्रेम केंद्रित शेर कम ही मिलेंगे। मंचीय गज़लकारों ने प्रेम को जिस तरह व्यक्त किया, वो रूमानी, भावुक और बाज़ारू अधिक था।

युवा गज़ल-लेखकों ने प्रेम जैसे शाश्वत विषय को सघन अनुभूतियों के साथ शेरों में कहा है। यह शैरीयत, ताज़ादम अनुभवों, जिज्ञासाओं और अकथ लीलाओं को, प्रतीकों तथा संकेतों में रचने की सफल यात्रा है। यह भी हकीकत है कि यह इक्कीसवीं सदी का नया समय, अधिक नफ़रत का समय है तो अधिक प्रेम का भी समय है। यह भी संभव है कि यांत्रिक होते समाज को प्रेम ने नए जीवन मूल्य दिए हों।

यहाँ प्रेम केंद्रित कुछ शेर हैं। युवा गज़लकारों ने जिस प्रबल भावना और जीवन की उद्दाम चाहतों के साथ शेर कहे हैं, उन्हें पढ़ना ज़रूरी प्रतीत होता है—

बिन तेरे कौन धुले कौन सुखाए कपड़े
एक ही शर्ट कई बार पहन लेता हूँ।

—ज्ञानेंद्र पाठक

एक बार और तेरे नाम पे वारा जाऊँ
सोचता हूँ, कि तेरी सिम्त दोबारा जाऊँ

तू मेरी रुह में शामिल हो हवा की मानिंद
मैं तेरे जिस्म की मिट्टी में उतारा जाऊँ।

—त्रिवेणी पाठक

अशकों को एहतियात से बरता करो मियाँ।

—इरशाद ख़ान सिकंदर

तुझे मैं क्या बताऊँ यार किस हालात में हूँ मैं
मुझे ये वहम होता है तेरी हर बात में हूँ मैं।

—विनय विश्वास

सारे आलम से होके मेरी खाक
फिर तेरे चाक पे चली आई।

—स्वप्निल तिवारी

प्रेम केंद्रित इन शेरों की विशिष्टता भी यही है कि वो महीन बुनत के साथ, प्रतीकों की भाषा में व्यक्त हुए हैं। यहाँ जो व्यक्त हुआ है वो अपनी गूँज के साथ मौजूद है। यहाँ जो अव्यक्त रहने

दिया गया है, वो अपनी ध्वनियों के साथ सुनाई देता है। इन अशआर में एक राग-सा है, जो जिस्म से ज़्यादा, आत्मा के क़रीब है, जो दिमाग़ से ज़्यादा दिल के क़रीब है। सभी शेर अपनी कहन में इसलिए सशक्त हैं कि यहाँ प्रेम का गौरवशाली रूप है—चेतना को स्पर्श करता हुआ। सभी शेर, प्रेम की जो स्पर्श भाषा होती है, उसी भाषा को विस्तार देते हैं।

हिन्दी गज़ल में, गज़ल कथन को कितनी हुनरमंदी से शेर का रूप दिया है, उसके पसामंज़र युवाओं की रचनात्मक तैयारी प्रतीत होती है। इन शेरों को देखें—

किसी तालाब के पानी में पत्थर फेंक कर देखो
बहुत-सी मछलियाँ पत्थर को भी चारा समझती हैं।

—चंद्रशेखर पांडेय

यह शेर मछलियों की मासूमियत का है लेकिन यह शेर उन साधारण लोगों का भी है जो तंत्र द्वारा फेंके गए आश्वासनों का सच मान लेते हैं।

इक-दो दिन की बात नहीं है ये बारिश

वक़्त बहुत लगता है बादल होने में।

—अनुज अन्न

यह जीवन-दर्शन केंद्रित एक कठिन विषय था जिसे युवा गज़लकार ने, नए क़िस्म का मुहावरा रचते हुए व्यक्त किया है। 'बहुत वक़्त लगता है बादल होने में', यह बादल होना जैसे पूर्णता हासिल करना हो।

शेर है—

कभी याद उसको किया करो, कभी उसकी सुध भी लिया करो—
ये ख़याल रखो दिमाग़ में कि तवील रिश्ता है ख़ाक से।

इस अनात्म निस्संग और संवेदनशील समय में,

लंबी बहर का यह शेर, यांत्रिक होते मनुष्यों को एहसास कराता है कि तवील रिश्ता है ख़ाक से! यह शेर जो चेतना को स्पर्श करता है, इसमें सूफ़ियाना राग भी है। यही सूफ़ियाना राग स्वप्निल तिवारी के शेर में भी है—

फूट जाएगी बदन की गुल्लक
और बिखरेंगे अनासिर मेरे।

यहाँ जिस्म गुल्लक है और उस गुल्लक का निर्माण जिन पाँच तत्वों से हुआ है, उनका बिखरना तय है।

तू उस दीवाने की हिम्मत का रख भ्रम मौला
जो खुद को चाँद की चौखट पे छोड़ आया है।

—के.पी. अनमोल

शेर में यथार्थ तो तिनका-भर होता है। कल्पनाशीलता, फंतासी और बिंब, उस शेर के विचार या कथ्य को ऊँचाई प्रदान करते हैं। यहाँ एक अदृश्य पात्र है जो खुद को चाँद पर रखकर चला आया है। ऐ मौला, तू उसके इस विभ्रम को शक्ति प्रदान कर! इस शेर में भी सूफ़ियाना ठाठ है। कल्पना के किन बारीक धागों से शेर को बुना गया है, उसका महत्व है।

कुछ और शेर प्रस्तुत हैं जो अपने अंदाज़े-बयाँ में और मुहावरेदारी में सघनता के साथ तहरीर हुए हैं—

किसी फ़क़ीर का मैं घर तलाश करता हूँ
नदी की बाँह में सागर तलाश करता हूँ।

—विकास

तेरी ख़ामोशियाँ बताती हैं
तू ज़रूरत से ज़्यादा बोला था।

—विवेक मिश्र

उठाया क्या किसी ने एक दिन उसको हिकारत से
कभी फिर लौटकर इस दर पे वो पागल नहीं आया।

—इरशाद खान सिकंदर

वो मेरी रुह मसल देता है
साँस भी लूँ तो दखल देता है।

—संजू शब्दिता

खुद को कितना निर्बल समझे
हम धागे को साँकल समझे।

—खुरशीद खैराड़ी

युवा गजलकारों के उपरोक्त अशआर इसलिए प्रस्तुत किए गए हैं कि इनके भीतर के घनत्व को महसूस किया जा सके। विषयगत विविधता के अतिरिक्त विषयगत व्यापकता का भी जायजा लिया जा सके। इन शेरों में भावगत सौंदर्य है और शैलीगत परिपक्वता। गजल कथन सबका अपना है और उसे अभिव्यक्त करने का हुनर भी सबका मौलिक है। हर शेर ज़िंदगी के अलग खिन्ते का आख्यान रचता प्रतीत होता है।

यहाँ, शेर कहने में जल्दबाज़ी दिखाई नहीं देती।

एक इत्मीनान-सा है। शेरगोई में जिस धैर्य और नुकीली एकाग्रता की ज़रूरत होती है, वो यहाँ मौजूद है। गजल में बाक़ी अनिवार्य तत्वों के अतिरिक्त, सारा खेल भावना और शब्दों का होता है। शेर में शब्दों को बरतने की कला, शेर को मेयारी बनाती है। शब्द तरंगित होते हैं। अर्थ गूँजता है।

हिन्दी गजल में युवा गजलकारों ने एक नई संचेतना, ऊर्जा और विश्वास पैदा किया है।

नई सदी अपने साथ नए जीवन-मूल्य ही नहीं लाई बल्कि कुछ नए शब्द भी लेकर आई है। ऐसे शब्द जो अनसुने थे। जो हमने नहीं सुने थे। वो इन दो दशकों में हमारे जीवन-शिल्प में किस क़दर ज़रूरी हो गए हैं और उसके न होने से हम कितने अधूरे होते हैं।

ज़रा गौर करें। मोबाइल, सिम, फ़ेसबुक, व्हाट्सप, सेल्फ़ी, मैसेज पासवर्ड, मिसकॉल जैसे शब्द हमारे रोज़नामचे में किस क़दर घुलमिल गए हैं। इनके साथ जीना कितना अनिवार्य हो चुका है। ये शब्द नहीं रहे। ये गैजेट्स हैं—नई जीवन शैली के ज़रूरी गैजेट्स!

शायर बशीर बद्र ने अपनी गजलों में 'पुलोवर', 'रिबन' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हुए चकित किया। नए समय के युवा गजलकारों ने प्रतिदिन प्रयोग किए जा रहे गैजेट्स का अपने अशआर में जिस ताज़ादम आवेग और शऊर से अभिव्यक्ति दी है, वो इस बात की तस्दीक़ है कि युवा गजलकारों की पहुँच दूर तक है। कुछ शेर प्रस्तुत हैं—

हमने भी उम्मीद अब तो छोड़ दी
फ़ेसबुक पर वो भी दिखनी बंद है।

—गौतम राजऋषि

कोई फ़ोकस नहीं करता किसी पर
सब अपनी-अपनी सेल्फ़ी ले रहे हैं।

—दिनेश हरमन

दर दीरीचों और छज्जों की कहानी खा गया
उफ़ा! ये मोबाइल करोड़ों ज़िंदगानी खा गया

टार्च, घड़ियाँ, रेडियो, कैसिट, रिकार्डर, चिट्ठियाँ
ये गुज़रते वक़्त की हर इक निशानी खा गया।

—अश्विनी शर्मा

युवा गजलकारों के साहसिक प्रयोगों ने हिन्दी गजल को बहुआयामी विस्तार दिया है। इन प्रयोगों ने हिन्दी गजल को जहाँ ताज़गी दी है वहीं, नव यथार्थ भी व्यक्त हुआ है। गैजेट्स ने हमारे जीवन में जो हस्तक्षेप पैदा किया है हिन्दी गजलकारों ने उसका संज्ञान कुछ इस क़दर लिया है कि नए समय का नया चेहरा दिखाई देने लगा है।

युवा गजलकारों की हिन्दी गजल में उपस्थिति ज़रूरी दखल की तरह है। युवा गजलकारों के कारण हिन्दी गजल के मुहावरे और मिज़ाज में बदलाव आया है। शेर के मिसरों को भावना के सूक्ष्म धागे से मनकों की तरह पिरोया गया है। युवा गजलकार, हिन्दी गजल के क्षेत्र में जिस भावभूमि के साथ प्रविष्ट हुए हैं, उसका ख़ैरमक़दम है।

लेकिन एक संशय भी है। यदि ये युवा गजल लेखक-हिन्दी गजल को कवि सम्मेलनी मंच की सीढ़ी बनाने की बाज़ारवादी सोच के साथ उतरे हैं तो यह हिन्दी गजल तथा स्वयं युवा गजलकारों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगा।

एक और बात गजल आलोचना को लेकर है। हम गजलों के उत्कृष्ट शेरों का चयन करते हैं और उन्हें केंद्र बनाकर गजल के विकास की बात करते हैं लेकिन गजलों के दुर्बल और साधारण शेरों पर कभी बात नहीं होती। ऐसा हिन्दी गजल आलोचना में ही नहीं, उर्दू गजल में भी यही रवैया है। शायरों के मेयारी शेरों पर अक्सर चर्चा होती है। कमज़ोर शेर, गजलों में छुपे रह जाते हैं।

यहाँ भी हमने युवाओं के श्रेष्ठ शेरों पर फ़ोकस किया है। यह इसलिए भी हुआ है कि युवा गजलकारों की ताक़तवर रचनाशीलता से रू-ब-रू हुआ जा सके।

यह उर्दू-हिन्दी आलोचना की एक परंपरा बन चुकी है कि श्रेष्ठ शेरों को केंद्र में रखकर बात की जाए। युवा गजलकारों के पास जो नई युवा दृष्टि है उसका वे भरपूर प्रयोग कर रहे हैं। यह नया समय जितना जटिल, विद्रुप और डरावना है, इसे गजल में व्यक्त करने के युवाओं के पास अनेक उपकरण हैं।

गजलों में शेरों का हो जाना बड़ी बात नहीं होती। बड़ी बात होती है कि शेर संपूर्ण चेतना और एकाग्रता के साथ, मिथकथन में व्यक्त हो। शब्दों का कोलाहल न हो, बल्कि शब्दों में एक संगीत-सा ध्वनित होता प्रतीत हो—ये तत्व युवा गजलकारों की शेरगोई में शामिल हैं।

पचास वर्षों की हिन्दी गजल यात्रा युवा गजलकारों की आमद से समृद्ध हुई है। □

आवश्यक सूचना

चंदा भेजने और चंदे के बारे में पूछताछ के लिए अथवा पत्रिका प्राप्त न होने की स्थिति में कृपया वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक से सीधे संपर्क करें।

पता : वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सी.जी.ओ.
कॉम्पलेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

फोन नं. : 011-24367453

ई-मेल : pdjucir @ gmail.com

समकालीन हिन्दी ग़ज़ल हिंदुस्तानियत का विस्तार

उमाशंकर सिंह परमार



जन्म : 29 जून, 1978 (उत्तर प्रदेश)।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ
प्रकाशित। आलोचना की दस पुस्तकें
प्रकाशित। 'मलय रचनावली' (सात खंड)
और 'महेंद्र भटनागर रचनावली' (सात
खंड) संपादित। महत्वपूर्ण ब्लॉगों में भी
प्रकाशन। संप्रति : 'लोकविमर्श' पत्रिका
का संपादन।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास की शुरुआत में लिखा है जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है। शुक्लजी का यह कथन किसी भी विधा की समकालीनता और उसकी प्रासंगिकता के निर्धारण का आज भी सूत्र वाक्य बना हुआ है। इस कथन से साफ़ झलकता है कि साहित्य परंपरा और समकालीनता एक-दूसरे पर आश्रित हैं। न तो हम परंपरा के अभाव में वर्तमान की पहचान कर सकते हैं और वर्तमान के बग़ैर हम परंपरा की उपयुक्तता पर मुकम्मल बहस नहीं कर सकते। हिन्दी ग़ज़ल ने अपने जन्म से ही आदमी व आदमियत को अपने केंद्र में रखा। इसलिए वह समय के साथ बदलते हिंदुस्तानी अवाम की आवाज़ बनकर उभरी और समय के साथ विभिन्न विभेदकारी शक्तियों से टकराती रही। दुष्यंत कुमार से लेकर युवा ग़ज़लकार कालीचरण सिंह तक का जो हिन्दी ग़ज़ल का सफ़र है वह इंसानी सोच और हिंदुस्तानियत का सफ़र है क्योंकि हिन्दी ग़ज़ल ने अपनी रीति और परंपरा अरबी-फ़ारसी से नहीं ग्रहण की, वह हिन्दी कविता की परंपरा और चिंतनधारा से खुद को जोड़ती रही है। यह इसलिए हुआ कि हिन्दी ग़ज़ल के शुरुआती नामानिगार हिन्दी के स्थापित कवि रहे हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, शमशेर बहादुर सिंह, दुष्यंत कुमार, नागार्जुन, त्रिलोचन सभी हिन्दी के बड़े कवि हैं और हिन्दी ग़ज़ल के शुरुआती ग़ज़लकार हैं। हिन्दी ग़ज़ल की नींव इन्हीं बड़े कवियों ने रखी। इसलिए हिन्दी ग़ज़ल अपने जन्म से ही हिन्दी कविता की तरह हिंदुस्तानियत की ग़ज़ल रही। हिंदुस्तानी अवाम की पीढ़ाओं, सुखों-दुखों और सांस्कृतिक तफ़्सीलों की ग़ज़ल रही है और आज तक वह अपने इस स्वरूप को बचाते हुए समय के मुद्दों, जटिलताओं, विसंगतियों, अस्मिताओं, अवाम के जीवन-संघर्षों को काव्य के बुनियादी सरोकारों में समाविष्ट कर विचारों की उच्चतम पराकाष्ठा तक ले जाती रही है।

दुष्यंत कुमार ने सबसे पहले ग़ज़ल को इश्कमिजाजी के गहरे कुँए से निकालकर उसे अपने समय की राजनैतिक भूमि पर खड़ा

किया। यह बदलाव अभूतपूर्व था। लिहाज़ा हिन्दी ग़ज़ल ने पुरानी रीति व प्रभाविकता से पृथक हो दुष्यंत की यथार्थवादी ज़मीन से अपनी यात्रा शुरू की। शलभ श्रीराम सिंह, गोरख पांडेय से होते हुए अदम गोंडवी के रूप में इसे दूसरा पड़ाव मिला। शलभ ने ग़ज़ल में मज़दूरों, शोषितों और पीड़ितों तथा पूँजीवादी शक्तियों की गहरी शिनाख़्त की है। मगर भाषा में उर्दू अल्फ़ाज़ों की बहुलता ने एक दूसरी बहस को जन्म दिया जिसे शुद्धतावादी बहस कहा जाता है। ग़ज़लकारों के दो पक्ष हो गए। एक पक्ष हिन्दी शब्दों का समर्थक रहा तो दूसरा पक्ष दोनों भाषाओं के मिले-जुले स्वरूप का। यह बहस अब भी जारी है। अदम गोंडवी ने ग़ज़ल को राजनैतिक बहसों के साथ-साथ गाँव से भी जोड़ा और नारा दिया कि ग़ज़ल को गाँव तक ले चलो। गाँव के दृश्य और गाँव की यथार्थवादी सामाजिक संरचनाओं का ग़ज़ल में अचानक दर्ज होना और भाषा में हिंदुस्तानी रहकर तत्कालीन राजनेताओं के चरित्र पर, लोकतंत्र की विफलताओं पर सीधे चोट करना इन सबने अदम को बड़ा ग़ज़लकार बना दिया।

समकालीन हिन्दी ग़ज़ल दुष्यंत, शलभ श्रीराम सिंह और अदम गोंडवी की राह पर आगे बढ़ रही है। इन सबसे और आगे निकलकर वह गली-मुहल्लों, कूचों तथा आम आदमी की बोली-बानी में अपने समय को दर्ज कर रही है। गाँव और शहर दोनों हैं और दोनों का द्वंद्व भी है। यह द्वंद्व कविता में भी लोकधर्मिता व कुलीनतावाद के रूप में रहा मगर ग़ज़ल में यह द्वंद्व गाँव और शहर का द्वंद्व बन गया और भाषा भी अब शुद्धतावादी सैद्धांतिकी से शनैः शनैः विमुक्त हो रही है। अब भाषा मुख्य सवाल नहीं है। हिंदुस्तानी अवाम की भाषा में ग़ज़ल कही जा रही है। यहाँ तक कि लोकभाषा, लोकबानी में भी ग़ज़लें लिखी और पसंद की जा रही हैं। अवधी, भोजपुरी में तो पहले से ही ग़ज़लें थीं अब अन्य बोलियों का भी दबदबा बढ़ा है। जैसे बुंदेली ग़ज़ल इस समय बहुत पसंद की जा रही है। यदि बुंदेली ग़ज़ल की बात होती है तो सबसे पहले हमारे सामने एक ही नाम आता है महेश कटारे सुगम का। महेश कटारे सुगम हिन्दी और बुंदेली दोनों में लिखते हैं और दोनों भाषाओं में उनके ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'अब जीवै को एकई चारौ', 'कहीं कुछ है'

क्रमशः बुंदेली और हिन्दी ग़ज़ल-संग्रह हैं। सुगम ने बुंदेली को अपना मुहावरा बनाया और बुंदेली लोक ही इनकी हिन्दी ग़ज़लों में उपस्थित है। महेश कटारे सुगम बुंदेलखंड की तपती पथरीली भूमि पर खड़े होकर हिंदुस्तान के ताप को महसूस कर रहे हैं। किसान की चेतना और किसान की पीड़ाओं का जितना यथार्थ वर्णन सुगम की ग़ज़ल में है उतना अन्य समकालीन ग़ज़लकारों की ग़ज़लों में नहीं है क्योंकि किसानों की समस्या ही बुंदेलखंड की मौलिक समस्या है। इसी को लेकर बुंदेलखंड पिछले एक दशक से अख़बारों व मीडिया में चर्चित रहा है। जाहिर है जब हम बुंदेली ज़मीन से मुड़े और भाषा अर्जित करेंगे तो किसान-खेती की दिक्कतों से मुँह नहीं मोड़ सकते हैं। सुगम लिखते हैं, 'जाने कैसी फसल उगाई / बोई दहाई बची इकाई / खूब किए झूठे विज्ञापन / लेकिन बढ़त नहीं बन पाई' यहाँ सत्ता के खिलाफ़ यदि बशावती तेवर हैं तो वह महज़ नारा नहीं है। लोक की गहराई और तर्क है। समकालीन हिन्दी ग़ज़ल केवल विद्यमान समय को ही नहीं पहचानती अपितु अब समाज और मनुष्य के जीवन में हो रहे अनावश्यक बदलावों का विरोध भी करती है। इस सदी में सबसे ज़्यादा शहरीकरण हुआ है। आधुनिकता ने खान-पान, रहन-सहन सब कुछ तब्दील कर दिया है। इस बदलाव को न तो हिन्दी कविता सहजता से पचा पा रही है और न ही हिन्दी ग़ज़ल। हमारे समय के जाने-माने ग़ज़लगी देवेन्द्र आर्य ने अपने ग़ज़ल-संग्रह 'जो पीवै नीर नैन का' में कहते हैं, 'मंडियाँ तय करेंगी खान पियन / घर का सतुवा पिसान छूटेगा / दाग सा लग गया है दाढ़ी पर / क्या कभी तालिबान छूटेगा'। यहाँ देवेन्द्र अपनी छूटती जा रही, अपदस्थ हो रही संस्कृति की चिंता कर रहे हैं। यह चिंता इतनी व्यापक है कि आज का हर ग़ज़लकार मिट्टी और ज़मीन की चिंता से व्याकुल है।

समकालीन ग़ज़ल के सुप्रसिद्ध नामानिगार अनिरुद्ध सिन्हा ने तो ज़मीन और मिट्टी के प्रति आत्मीयता को प्रतिरोध और देशभक्ति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्तियों से जोड़कर जनोन्मुखी बनाया है। यह काम नागार्जुन भी करते थे। अपनी ज़मीन से वह भी हिंदुस्तान के दर्शन करते थे। यही काम अनिरुद्ध कर रहे हैं। वह अपनी किताब 'ताकि हम बचे रहें' में कह रहे हैं, 'अनमोल ये गुहर है / इसे आजमाइए / माथे पे अपने देश की / मिट्टी लगाइए'। ऐसी ग़ज़लों में औपचारिकता नहीं रहती। इनके पीछे अवाम और हिंदुस्तान की पीड़ाओं का नरक है और ग़ज़लकार इस नरक से मुक्ति चाहता है। इसलिए हर एक समकालीन ग़ज़लकार अपनी ज़मीन से ही हिंदुस्तान देखने की बात करता है। वह शहर नहीं जाना चाहता। वह आधुनिकता की नज़र से अपनी परख नहीं करना चाहता। वह गाँव के किसानों-मज़दूरों और प्रकृति के खो चुके स्वरूप को दोबारा देखना चाहता है। जाने-माने शायर अशोक मजाज़ बद्र सागर के हैं। उर्दू से हिन्दी में आए हैं। उन्होंने अपने ग़ज़ल-संग्रह 'समन्दर आज भी चुप है' में कहा है, 'बला की धूप में क्या-क्या किसान देखते हैं / कभी ज़मीन कभी आसमान देखते हैं / कहाँ गए वो सिपाही / जो हमसे कहते थे / हम अपने गाँव में / हिंदुस्तान देखते हैं'। अशोक मजाज़ इस ग़ज़ल में उस अर्धसत्य की बात करते हैं जो आज की सियासत में सच छिपाने का ज़रिया बन चुका है। भले ही हमारे जनप्रतिनिधि गाँधीवादी लोकतंत्र या रामराज की बात करें मगर उनका वास्तविक

रामराज शहरों तक सीमित है और शहर ही उनका रामराज है। गाँव को हिंदुस्तान कहने वाले रहनुमा आज नहीं रह गए हैं। गाँव और हिंदुस्तान का यह आत्मविलयन व आत्मसातीकरण हिन्दी ग़ज़ल की यथार्थवादी अभिव्यक्ति है। आज जब कोरोना ने विश्व का रहन-सहन और ढर्रा सब बदल दिया है, शहरी जीवन की कठिनाइयों और समस्याओं की पोल खोल दी है, ऐसे समय में चिंतक, विचारक और लेखक तीनों इस बात पर बल दे रहे हैं कि गाँव की ओर लौटो। असली हिंदुस्तान हमारे गाँव हैं और गाँव की जिंदगी ही ऐसी भीषण महामारियों से बचा सकती है। इसलिए आज का लोकधर्मी ग़ज़लकार तो शहर छोड़ने की भी बात करता है क्योंकि वह आदमी का शायर है और आदमी ही आज की ग़ज़ल का मूल स्थापत्य है। आदमी और आदमियत को बचाने की जद्दोजहद ही गाँव और शहर का द्वंद्व है। हिंदुस्तान को बचाने के लिए हिंदुस्तानियत की जंग है। शायर कृष्ण कुमार प्रजापति ने अपने ग़ज़ल संग्रह 'आईना गूँगा नहीं है' में लिखते हैं, 'सब गुनाहों से बरी हो जाएँगे / लोग जिस दिन आदमी हो जाएँगे / भीड़ जो बढ़ती रहेगी शहर में / रास्ते सारे गली हो जाएँगे'। आदमी का आदमी होना ही सभी गुनाहों से बरी होना है। कोई भी लेखक या कवि ठहरी हुई ग़लत सोच के कटघरे में नहीं खड़ा होता है। लेखक ताजिंदगी आदमियत के लिए रचनात्मक संघर्ष करता रहता है। यही कारण है कि वह अपने अतीत की संस्कृति और समझ का बार-बार स्मरण करता है और उजड़ चुके हिंदुस्तान को ग़ज़ल में दर्ज करता है।

कमलेश भट्ट कमल तो हिंदुस्तानियत के खो जाने को ही आज की समस्याओं का आधारभूत कारण मानते हैं। उन्होंने अपनी किताब 'शिखरों के सोपान' में लिखा है, 'कहीं गौरव कहीं इस मुल्क का अभिमान सोता है / तभी तो भूखा-प्यासा आधा हिंदुस्तान सोता है'। आधी आबादी भुखमरी और कुपोषण का शिकार है। इसके कारण चाहे जो हों लेकिन आज का ग़ज़लकार इसे हिंदुस्तानी गौरव और अभिमान से जोड़ता है। यदि हर नागरिक इस मुल्क का ज़िम्मेदार नागरिक हो जाए, अपने अतीत के अभिमान का स्मरण करे तो ये जो भूखे और गरीब लोगों की भीड़ है इसका नामोनिशान न रहे अर्थात् आदमी ही हिंदुस्तान है और हिंदुस्तान के प्रति संवेदनशील होने का अर्थ है आदमी के प्रति संवेदनशील होना। इसलिए आज का ग़ज़लकार सभी जातीय और धार्मिक और भाषाई विभेदों को भुलाकर एक समूचे हिंदुस्तान की बात करता है। जब आदमियत पर बात होती है तो वह आदमी न तो किसी जाति का होता है न धर्म का होता है। वह विशुद्ध हिंदुस्तानी होता है। इस आदमियत को बचाने के लिए आज का शायर जातिवाद और धार्मिक कट्टरता की तीखी आलोचना करता है। यह आलोचना सभी ग़ज़लकारों ने की है और साझापन व साझा संस्कृति का जोरदार विधान किया है जिसे हम गंगा-जमुनी तहजीब कहते हैं। युवा शायर दौलतराम प्रजापति अपनी किताब 'दीया रोशन हुआ' में लिखते हैं, 'उर्दू का तलबगार हो या हिन्दी का पुजारी / अहले अदब में दूसरा रसखान नहीं है / भाषाएँ बोलियाँ अनेक क्रौंमें रियायतें / भारत के जैसा कोई दूसरा गुलदान नहीं है'। रसखान साझा संस्कृति की पहचान हैं। सभी विभेदों को एक गुलदान का अलग-अलग पुष्प कहकर शायर वास्तविक अनेकता

में एकता की बात कह रहा है जो हमारे संवैधानिक हिंदुस्तान की लोकतांत्रिक पहचान है।

समकालीन ग़ज़ल एक तरफ़ हिंदुस्तानियत की बात करते हुए कविता की लोकमंगलवादी परंपरा से जुड़ती है तो दूसरी तरफ़ आधुनिक विचारधाराओं के आलोक में हाशिए की अस्मिताओं पर भी बात करती है। आज की वो समस्त बहसें ग़ज़ल में भी हैं जो कविता और अन्य विधाओं में हैं। विशेषकर स्त्रीवाद पर युवा ग़ज़लकारा भावना, दलित चेतना में सुगम की कुछ ग़ज़लें, पर्यावरण चिंतन पर ज्ञानप्रकाश विवेक, हरeram समीप, माधव कौशिक, प्रयोगवादी कलावादी ग़ज़लों के क्षेत्र में सूर्यभानु गुप्त, आदमी की अस्मिता व पहचान के संकट पर हृदयेश मयंक, हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता पर सुल्तान अहमद व ज़हीर कुरेशी की ग़ज़लों को देखा-परखा जा सकता है। जहाँ तक राजनैतिक विसंगतियों और राजनैतिक पतन व लोकतांत्रिक मोहभंग की बात है। लगभग सभी हिन्दी ग़ज़लकारों ने इस विषय पर लिखा है। यह भाव दुष्यंत कुमार से लेकर अदम गोंडवी की 'उतरा है रामराज विधायक निवास में' तक हर जगह है। आज भी राजनैतिक व्यंग्य और आक्रोश पर ग़ज़ल लिखी जा रही है। गिरीश पंकज की बहुधा ग़ज़लें राजनैतिक प्रतिरोध की ग़ज़लें हैं जो हमारे चुने गए जन प्रतिनिधियों पर बड़ी शिद्दत के साथ बात करती हैं और लगभग सभी युवा वरिष्ठ शायर आज की हिंदुस्तानी समस्याओं पर अपना हस्तक्षेप कर रहे हैं। वह समस्याओं की जड़ तक जाते हैं और कारणों का रहस्योद्घाटन भी करते हैं। बाज़ारवाद, भूमंडलीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्यकरण, निजीकरण और देश में बदलते हालात पर गंभीर मगर कारुणिक आक्रोश से युक्त प्रतिरोध भी दर्ज करते हैं। दरवेश भारती, ध्रुव गुप्त, प्रेम भारद्वाज, विनय मिश्र, विज्ञान व्रत जैसे ग़ज़लकारों की रचनाभूमि इसी आधुनिकता-बोध की ग़ज़लें हैं। वह समय के साथ और समय के बाद समय के आगे चलने का दावा और वादा दोनों करती हैं।

बाज़ारवाद और भूमंडलीकरण दोनों एक ही अवधारणा है। बाज़ार ने पूँजी को अपना केंद्र बनाया और पूँजी ने अपने-आपको वैश्विक बनाया। पूँजी का वैश्वीकरण ही भूमंडलीकरण है। आज हम अपने समाज और देश में जिन नकारात्मक बदलावों को महसूस कर रहे हैं वो सब बाज़ार की देन हैं। बाज़ार ने आदमी को उत्पाद बना दिया है और खेत-खलिहानों को समाप्त कर शॉपिंग मॉल खड़ा कर दिया है। बाज़ार जंगल चबा रहा है और नदियों का सीना चीरकर उनको खोखला कर रहा है। आदमी के रिश्ते-नाते, घर, परिवार हर एक जगह बाज़ार की घुसपैठ हो चुकी है। इस बात को लेकर हमारी उम्र के वो शायर जिनका अभी ग़ज़ल-संग्रह नहीं आया, जो भविष्य की पीढ़ी हैं जिसकी सक्रियता 2010 के बाद पत्र-पत्रिकाओं व मुशायरों में देखी गई, यह पीढ़ी बाज़ार के छलों और विभ्रमों को भुगतने वाली पीढ़ी है। बाज़ार का सर्वाधिकारवादी स्वरूप इसी दौर में देखा गया है। लिहाज़ा तीसरी पीढ़ी के शायर बाज़ार व उसके सांस्कृतिक छलों पर बड़े तंज़ के साथ अपनी ग़ज़ल कहते हैं और हिंदुस्तानी अवाम के पक्ष में खड़े होकर बाज़ार के विभिन्न अमानवीय दृश्यों पर आक्रामक हो रहे हैं। यह आक्रामकता अकारण नहीं है। पठनीयता की अपार संभावनाओं के साथ है। ये नए ग़ज़लकार अपने समय

के यथार्थ को अपने हिसाब से ग्रहण करते हैं। ऐसी ग़ज़ल शौक से नहीं लिखी जा सकती। यहाँ समझ और चेतना के लिए ठहराव, धैर्य और तर्क की ज़रूरत होती है। इसलिए आज का शायर अपने उद्बोधन में हिंदुस्तानी अवाम के यथार्थ और अपने लेखकीय यथार्थ के बीच रचनात्मक संतुलन साधने में कामयाब हो जाता है। ऐसे युवा ग़ज़लकारों में अखिलेश श्रीवास्तव चमन, कालीचरण सिंह और नज़म सुभाष का नाम लिया जा सकता है। युवा ग़ज़लकार कालीचरण सिंह की ग़ज़लों में बाज़ारवादी सांस्कृतिक बदलावों और राजनैतिक हस्तक्षेप की अच्छी समझ है। कालीचरण सिंह बाँदा जनपद के हैं और कुछेक वर्षों में जिन युवा ग़ज़लकारों ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान क़ायम की है, कालीचरण का नाम सबसे प्रमुख है। विभिन्न मुशायरों और समागमों के अतिरिक्त पत्रिकाओं में भी दिख जाते हैं, लगातार छपते रहे हैं और लगभग सभी आलोचक युवा ग़ज़लकारों में कालीचरण का नाम लेना पसंद करते हैं। कालीचरण सिंह बाज़ारवादी दौर के शायर हैं। इसलिए वह बाज़ार पर आक्रामक हैं। उनकी एक ग़ज़ल मैंने 'लहक' में पढ़ी थी, 'जिस बियाबान से गुज़रते थे कभी शाम-ओ-शहर / सज गया है वहाँ बाज़ार कहीं और चलें। अर्थात् जहाँ हम होते थे, प्रकृति होती थी अब उस जगह पर बाज़ार ने कब्ज़ा कर लिया है। अब आदमी वहाँ नहीं रह गया है। युवा ग़ज़लकार नज़म सुभाष अवधी और हिन्दी, दोनों में ग़ज़ल लिखने में पारंगत हैं। सुभाष और कालीचरण की ग़ज़लों में सबसे बड़ी खासियत यह है कि वह आज के तमाम ग़ज़लकारों की तरह वैचारिक रूप से ढुलमुल नहीं हैं। वैचारिक पुष्टता, स्पष्ट पक्षधरता तथा युवा सुलभ व्यंग्य व वक्रोक्ति का गज़िन राग और संकेतार्थ इनकी ग़ज़लों की प्राणवायु है। सुभाष आज के समय की किसी भी घटना-परिघटना से परहेज़ नहीं करते हैं, न ही किसी विषय से जिसमें वैचारिकता की आंशिक संभावना भी है। वह ग़ज़ल लिख देते हैं। इस संदर्भ में सुभाष को तात्कालिक ग़ज़लकार कहना ज़्यादा सही रहेगा। उनकी एक ग़ज़ल जो एक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी 'भूख, गरीबी, लाचारी के आलम में / उम्मीदों के टूटे लश्कर दिखते हैं / अबतक इस पर जोड़-घटाना जारी है / मरकर कैसे ज़िंदा वोटर दिखते हैं'। यह ग़ज़ल भूख और जलालत में जूझ रहे हिंदुस्तान और लोकतंत्र के मध्य बढ़े फ़ासले की अभिव्यक्ति है। अपेक्षाकृत वरिष्ठ ग़ज़लकार अखिलेश श्रीवास्तव चमन और युवा ग़ज़लकार पुष्पेंद्र पुष्प भी इसी भावभूमि में लिख रहे हैं। चमनजी बहुपठित और चर्चित शायर हैं और नज़म सुभाष की तरह आक्रामक हैं लेकिन पुष्पेंद्र पुष्प में वैचारिकता अभी उतनी पुष्ट नहीं है जिसके कारण वह जनोन्मुख विषयों में उतने अधिकार और सटीक ढंग से अपनी बात नहीं कह पाते हैं। आजकल शौकिया ग़ज़लकारों की लंबी भीड़ सक्रिय है। ऐसी भीड़ में परिपक्व ग़ज़लकार खोजना टेढ़ी खीर है। न तो सबको पढ़ा जा सकता है न सबको ग़ज़लकार मानने का कोई तर्क है फिर भी हम यदि हिन्दी ग़ज़ल की अपनी जातीय परंपरा का अवलोकन करें तो अखिलेश श्रीवास्तव चमन, कालीचरण सिंह और नज़म सुभाष की उपस्थिति व सक्रियता हमें आश्चर्य करती है कि हिन्दी ग़ज़ल हिंदुस्तानियत की अपनी साझा समझ को निरंतर बरकरार रखेगी और अवाम के पक्ष में अपनी चिंताओं को हमेशा बचाए रखेगी। □

तराने जो अब भी गूँजते हैं

शंकर दयाल सिंह

जंजीरों से चले बाँधने / आज़ादी की चाह!
घी से आग बुझाने की / सोची है सीधी राह!

हाथ-पाँव जकड़ो, जो चाहो / है अधिकार तुम्हारा!
जंजीरों से क़ैद नहीं / हो सकता हृदय हमारा!

—सोहनलाल द्विवेदी

तराने जो अब भी गूँजते हैं। हाँ, आज़ादी आए कितने साल हो गए, गुलामी की बेड़ी उसके साथ-साथ ही टूटी और राष्ट्रपिता बापू, पं. जवाहरलाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, सरदार वल्लभभाई पटेल, मौलाना आज़ाद, सरोजिनी नायडू, राजगोपालाचारी कोई भी तो हमारे सामने आज सशरीर नहीं हैं, भले उनकी कीर्ति किसी-न-किसी रूप में हमारे सामने आज भी यथावत् है लेकिन जनश्रुतियों में उनमें से हर कोई जीवित है और यह साबित कर रहा है कि जीवित क्रौम का इतिहास कभी भी काल-कवलित नहीं होता।

पुरानी उक्ति है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है लेकिन वह ज़माना तो ऐसा था कि कोई चीज़ छपी नहीं कि ज़ब्त लेकिन गाथाएँ, लोकगीत, बिरहा की तान, होली और कजरी की धुन, शादी और छठुई में गाने वाले गीत—हर जगह तो बस एक ही पुकार थी—खादी की साड़ी रंग दे / रंगदार रे रंगरेज़वा / जिसे पहनकर हो जाएँ / आज़ाद रे रंगरेज़वा।

पूरा का पूरा लोक-साहित्य, उस युग के इस तथ्य को घोषित कर रहा है कि जन-जीवन में इसकी चेतना व्याप्त हो गई थी। राष्ट्रीय आंदोलन, गाँधी, देश की आज़ादी, राष्ट्रीय नेताओं का व्यक्तित्व सब जनचेतना में इस प्रकार व्याप्त हो गए थे कि मात्र साहित्यकार या बौद्धिक लोग ही इससे प्रभावित न थे, वरन् आम जनता, गाँव की पनिहारिन, भैंस-गाय चराने वाले चरवाहे तक अपनी धुन में राष्ट्रीय चेतना के गीत गाते थे—

दर्जनों ऐसे गीत जो हम लोगों ने बचपन में सुने थे और गुनगुनाए थे, वे आज तक कभी भूल नहीं पाते हैं—

क्रदम-क्रदम बढ़ाए जा, खुशी के गीत गाए जा
यह ज़िंदगी है क्रौम की, तू क्रौम पर लुटाए जा।

विजय विश्व तिरंगा प्यारा / झंडा ऊँचा रहे हमारा
सदा शक्ति बरसाने वाला / प्रेम सुधा सरसाने वाले
वीरों को हरषाने वाला / मातृभूमि का तन-मन सारा, झंडा
ऊँचा रहे हमारा।

आज़ाद हिंद फ़ौज को हम मुक्त करेंगे
परवाह नहीं गोली की वार सहेंगे।

इसी प्रकार बहादुरशाह ज़फ़र और रामप्रसाद 'बिस्मिल' के निम्नलिखित शेर बच्चे-बच्चे की ज़बान पर थिरकते नज़र आते थे—
गाज़ियों में बू रहेगी, जब तलक इमान की / तख़्ते लंदन तक
चलेगी, तेरा हिंदुस्तान की। और इसी प्रकार—

सरफ़रोशी की तमन्ना, अब हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना, बाज़ुएँ क्रांतिल में है।

उस समय के साहित्यकारों में अधिकाँश ने जो भी लिखा उसे जनता ने माथे से लगा लिया। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' लोगों के गले का हार बनी तो सुभद्राकुमारी चौहान की कविता 'खूब लड़ी मरदानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी' ने मुरदों में भी जीवन का संचार किया। पंतजी ने 'ग्राम्या' में भारतीय गाँवों का सजीव चित्रण किया तो बाबू रघुवीर सहाय की 'बटोहिया' और मनोरंजन प्रसाद की 'फ़िरंगिया' ने जन-जागरण का काम किया—

सुंदर सुभूमि भइया भारत के देसवा से
मोरे प्रान बसे हिम खोह रे बटोहिया
एक द्वार मेरे राम हिम कोतवालवा से,
तीन द्वार सिंधु घहरावे रे बटोहिया
जाऊँ-जाऊँ भइया रे बटोही हिंद देखि आऊँ
जहाँ सुख झुले धान खेत रे बटोहिया
उन्हीं दिनों 'प्रसाद' जी ने—

'हिमाद्री तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वल, स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञा सोच लो
प्रशस्त पुण्य-पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।' लिखकर नया जोश पैदा किया। निराला भी पीछे नहीं रहे और 'जागो फिर एक बार' की दुंदुभि फूँकी और स्वतंत्रता संग्राम के अनन्य सेनानी माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने जो आह्वान गीत लिखे उनसे चिंगारियों की जगह ज्वालाएँ फूटीं—

क्या देख न सकती जंजीरों का गहना
हथकड़ियाँ क्यों? ब्रिटिश राज का गहना
कहा 'एक भारतीय आत्मा' ने, वहीं 'नवीन' जी की—
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए
का उद्घोष किया।

उर्दू के शायर ऐसे मौक़ों पर एक क़दम और आगे बढ़ आए—
सारे जहाँ से अच्छा, हिंदोस्ताँ हमारा

हम बुलबुलें हैं इसकी, ये गुलसिताँ हमारा
यूनान मिश्र रूमा सब मिट गए जहाँ से
अब तक मगर है बाक़ी नामोनिशाँ हमारा
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौरे ज़माँ हमारा।

—इक़बाल

वतन का मैं वक्रार हूँ / वतन की मैं बहार हूँ
वतन का जौनिसार हूँ
उठा हूँ जोश में भरा, करूँगा हश्र में बपा
सिपाही मेरा नाम है / वतन पे मरना काम है।

—असलम लखनवी

सच किसी दाना ने था ये क्रौम से अपनी कहा
जो कि हामी क्रौम के हैं, उनका हामी है खुदा
देख लो! मुमताज़ दुनिया में वहीं क्रौम हैं आज
क्रौम पर कुर्बान है जिनका हर एक छोटा बड़ा।

—अलताफ़ हुसैन 'हाली'

इसी तरह के हज़ारों नग़मे, शेर, रूबाइयाँ, ग़ज़लें तथा तराने उर्दू के तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। शायद ही उस दौर का कोई ऐसा शायर हो जिसने वतन की याद में क्रौमी तराने न छेड़े हों। 'जोश' मलीहाबादी ने लिखा ही था—

वक्रत लिखेगा कहानी एक नए मज़मून की
जिसकी सुख़्ती को ज़रूरत है तुम्हारे खून की।

1857 में हिंदुओं और मुसलमानों ने कंधे-से-कंधा मिलाकर विदेशी हुकूमत के खिलाफ़ जो जंगे-आज़ादी छेड़ी, उसका इज़हार कवियों और शायरों दोनों में देखने को मिलता है। आज़ादी की लड़ाई अहिंसात्मक थी जिसका नेतृत्व गाँधीजी कर रहे थे। अतः अनेक कवियों ने गाँधीजी और राष्ट्रीय आह्वान का स्वर एक साथ मिलाकर कहा—

चल पड़े जिधर दो डगमग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि, गड़ गए कोटि दृग उसी ओर

जिसके शिर पर निज धरा हाथ, उसके शिर-रक्षक कोटि हाथ
जिस पर निज मस्तक झुका दिया, झुक गए उसी पर कोटि माथ
सोहनलाल द्विवेदी की यह कविता गाँधीजी पर है लेकिन देश का यह अभियान-गान भी है। द्विवेदीजी ने उस युग में सैकड़ों की संख्या में जो राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, उसे सहज भाषा, शैली और कथ्य के कारण युवकों ने अपनाया।

इसी भाँति 'सुना रहा हूँ, तुम्हें भैरवी! जागो मेरे सोने वालो' नामक कविता ने उस युग को उद्वेलित-अनुप्राणित किया।

इसी युग में कवि दिनकर ने हुँकार भरी—

सदियों की ठंडी बुझी राख सुगबुगा उठी / मिट्टी सोने का
ताज पहन इठलाती है / दो राह, समय के रथ का घर्घर नाद सुनो /
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

केवल हिन्दी और उर्दू में ही यह राष्ट्रीय स्वर न उभरा वरन् पूरे भारतीय साहित्य में आज़ादी के तराने साहित्य का एक अंग बन कर सोए राष्ट्र को जगाने लगे। उनका माध्यम गद्य और पद्य दोनों थे। आखिर बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय का 'वंदे मातरम्', करोड़ों कंटों का हार बना जिसे आज भी कोई भूलता नहीं है—

सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम् / शस्य श्यामलां मातरम्/ वन्दे मातरम्! या कि कवि-गुरु रवींद्रनाथ टैगोर की कविता—

जन-गण-मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता!

पंजाब-सिंधु-गुजरात-मराठा, द्राविड़, उत्कल बंग

विंध्य हिमाचल, यमुना-गंगा, उच्छल जलधि तरंग
तब शुभ नामे जागे, तब शुभ आशिष माँगे
गाहे तब, जय-गाथा.....।

इसी ही हमने अपना राष्ट्रगान माना।

राष्ट्र की पुकार पर और क्रांति की अगुवाई में जो वर्ग सबसे अधिक मुखर होकर इसमें कूदा अथवा जिसने अपनी कलम को गिरवी नहीं रखा, वह साहित्यकारों-कलाकारों और बुद्धिजीवियों का वर्ग माना जाता रहा है। गाँधीजी की पुकार पर भारत में भी हज़ारों लोग अपनी नौकरियाँ कुर्बान कर दर-दर की ठोकें खाते रहे और वतन की आज़ादी के गीत गाते रहे। रवींद्रनाथ टैगोर ने जलियाँवाला बाग़-कांड तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन की पुकार पर अपना विशेष सम्मान 'नाइटहुड' ब्रिटिश-सरकार को वापस करते हुए लिखा—“ऐसा समय आ गया है जब सम्मान में मिले बिल्लों ने मान-मर्दन के भोंडे संदर्भ में हमारी शर्म को उघाड़कर रख दिया है। जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं उन सभी विशिष्टताओं का परित्याग करके अपने उन देशवासियों के साथ खड़ा हूँ जिन्हें तुच्छ समझकर ऐसे अपमानों द्वारा पीड़ित किया गया है, जो मनुष्य के लिए नहीं है।”

जमील मज़हरी जैसे शायर ने 'भारतमाता' को याद करते हुए सीधे और सच्चे शब्दों में जो कुछ लिखा, वही अक्सर कमोबेश हर साहित्यकार की लेखनी में देखने में आता है—

ओ माता गौतम की माता, अरजुन और भीष्म की माता
टीपू की माँ, अकबर की माँ, सतवंती माँ, बलवंती माँ
शक्ती तुझसे, सत् तुझसे है, मत तुझसे, हिम्मत तुझसे है
शौरिश दे, सौदा दे, सर दे, दिल का दीया फिर रोशन कर दे
दारो रसन का खेल सिखा दे, नाम पे अपने भेंट चढ़ा दे
टीपू औ पोरस पैदा कर, एक उठे तो दस पैदा कर
देश का हर सेवक आँधी हो, हर बच्चा 'आज़ादे'-गाँधी हो
हर पुत्री हो सरोजिनी माई, हर माई हो लक्ष्मीबाई...।

यह देश की आज़ादी के लिए आवश्यक भी था कि गाँधीजी ने जब 'करो या मरो' का नारा दिया, कांग्रेस ने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पारित किया और हज़ारों लोग गोलियों के शिकार हुए, लाखों जेलों की सींकचों में बंद हुए तो कवि-कलाकार वैसे समय चुप कैसे रहता। हर गली-कूचे-क्रस्वे से तराने फूट रहे थे—

विपत्तियों के बादलों को चूमकर जगा रही,
है हिंद जयति हिंद जय, हिंद को जगा रहा
महासमुद्र हिल उठा, जहान देखता रहा,
स्वतंत्रता की दुंदुभि, यह कौन है बजा रहा।

—कवि प्रकाश

कई रंगों-रूपों-छंदों तथा वाक्य-विन्यासों में आज़ादी के तराने गाए गए लेकिन सबों का स्वर एक ही था—

या तो स्वतंत्र हो जाएँगे

या तो हम मर मिट जाएँगे

फाँसी के तख्ते से अमर शहीद बिस्मिल ने भी यह कहा था—

अब न अहले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़

एक मिट जाने की हसरत, बस दिले 'बिस्मिल' में है।

आने वाली पीढ़ियाँ जब कभी-भी आज़ादी के दीवानों को याद करेंगी, तो निश्चित रूप से उनके साथ ही आज़ादी के इन तरानों को भी याद करेंगी, जिसकी छाप हमारे स्वतंत्रता के इतिहास पर सदा-सदा के लिए अमिट है।

(प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'भारत छोड़ो आंदोलन' से) □

● तीन गज़लें : योगेन्द्र दत्त शर्मा



जन्म : 30 अगस्त, 1950 (गाज़ियाबाद)।
कवि, कथाकार, उपन्यासकार। विभिन्न
पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।
नवगीत, गज़ल, कहानी, उपन्यास, बाल
कविता आदि पर 21 पुस्तकें प्रकाशित।
संप्रति : सूचना और प्रसारण मंत्रालय की
भारतीय सूचना सेवा से अवकाश प्राप्ति के
बाद स्वतंत्र लेखन।

(1)

है वक़्त की ये हिदायत कि अपने घर में रहूँ
में सोचता हूँ, मुसलसल किसी सफ़र में रहूँ!

जो घर से हो गए बेघर, ठिकाना जिनका नहीं
उन्हीं के साथ मैं उनकी तरह डगर में रहूँ!

हूँ लापता मैं, मेरे साथ मेरी गुमनामी
मैं गुमशुदा की तरह सिर्फ़ रहगुज़र में रहूँ!

वजूद मेरा भी कुछ तो है, सोच भी है अलग
ये कैसी ज़िद है कि मैं आपके असर में रहूँ!

कोई तो फ़ैसला हफ़्त में मेरे सुना, मुन्सिफ़
मैं और किस तरह, कब तक अगर-मगर में रहूँ!

मैं शेर कहता हूँ, बंदिश नहीं कुबूल मुझे
उनका फ़रमान है, हर हाल में बहर में रहूँ!

मैं मानता हूँ कि हैं आप निगहबान मेरे
ज़रूरी ये तो नहीं, आपकी नज़र में रहूँ!

ये सुखियाँ, ये चकाचौंध नहीं मेरे लिए
मैं चाहता ही नहीं हूँ कि मैं ख़बर में रहूँ!

हुनर है पास मेरे, कह रही है आब मेरी
कभी गुहर में रहूँ मैं, कभी शर में रहूँ!

(2)

ये मौसम कील जैसा गड़ रहा है
घरों में क़ैद रहना पड़ रहा है!

हमारी बात तो सुनता नहीं वो
बस अपनी बात पर ही अड़ रहा है!

बड़े मन से तराशा था जिन्हें कल
पलस्तर उन बुतों से झड़ रहा है!

बहुत-सी बातें करना चाहते थे
मगर होठों पे ताला जड़ रहा है!

ये मत पूछो कि मंज़िल का हुआ क्या
हमारा रास्ता बीहड़ रहा है!

झुका है सिर भले ही तेरे आगे
तना लेकिन हमारा धड़ रहा है!

किसी के काम आ जाता, तो क्या था
जो गोदामों में गंदुम सड़ रहा है!

तुम्हारी आँख का तारा बना जो
हमारी आँख का कंकड़ रहा है!

किसी के साथ का मुहताज कब वो
अकेला ही लड़ाई लड़ रहा है!

खड़ा है शेर बनकर सामने जो
कभी वो भी महज़ गीदड़ रहा है!

जो अब सहला रहा माथा हमारा
यही कल गाल का थप्पड़ रहा है!

(3)

किसी खंडहर की दुआओं का असर लगता है
तनहा-तनहा-सा मुझे अपना सफ़र लगता है!

कोई आवाज़, न हलचल, न ही करवट है कोई
यह शहर मुझको तो बेजान शहर लगता है!

सर झुकाए हुए सदियों से यूँ ही बैठा रहा
सर उठाता हूँ तो दीवार से सर-लगता है!

कितना ख़ामोश है यादों में कहीं खोया हुआ
वो बयाबाँ का कोई बूढ़ा शज़र लगता है!

खेल कैसा है, समझ आता नहीं है बिल्कुल
तुम चलाते हो उधर, तीर इधर लगता है!

हमको पहचान न ले दोस्त कोई बचपन का
अब तो गलियों से गुज़रते हुए डर लगता है !

तुम मेरे साथ ही रहते हो सफ़र में अक्सर
ऐसा होता तो नहीं, ऐसा मगर लगता है!

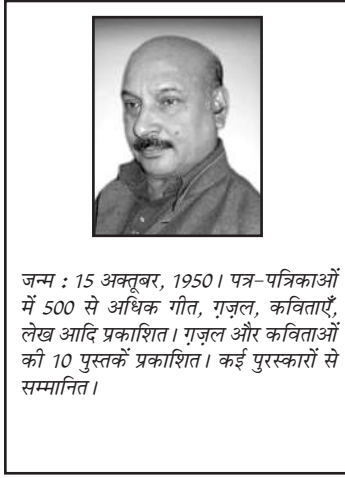
एक बस्ती है, पराई है, मगर अपनी-सी
ख़ाक जो जलके हुआ, अपना ही घर लगता है!

लोग कहते हैं, करिश्मा है कोई कुदरत का
कुछ भी हो, मुझको तो यह तेरा हुनर लगता है!

□

संपर्क : मो. 9311953572, ई-मेल : yogendraduttsharma3110@gmail.com

● चार गज़लें : डी. एम. मिश्र



जन्म : 15 अक्टूबर, 1950। पत्र-पत्रिकाओं में 500 से अधिक गीत, गज़ल, कविताएँ, लेख आदि प्रकाशित। गज़ल और कविताओं की 10 पुस्तकें प्रकाशित। कई पुरस्कारों से सम्मानित।

(1)

यूँ अचानक हुक्म आया लॉकडाउन हो गया
यार से मिल भी न पाया लॉकडाउन हो गया

बंद पिंजरे में किसी मजबूर पंछी की तरह
दिल हमारा फड़फड़ाया लॉकडाउन हो गया

घर के बाहर है कोरोना, घर के भीतर भूख है
मौत का कैसा ये साया लॉकडाउन हो गया

गाँव से लेकर शहर तक हर सड़क वीरान है
किसने ये दिन है दिखाया लॉकडाउन हो गया

किसकी ये शैतानी माया,
किसने ये साजिश रची
किसने है ये जुल्म ढाया
लॉकडाउन हो गया

ज्यों सुना टीवी पे कोरोना से फिर इतने मरे
झट से दरवाज़ा सटाय़ा लॉकडाउन हो गया

कल लगाता था गले अब छू नहीं
सकता उन्हें
मुश्किलों का दौर आया लॉकडाउन हो गया।

(2)

दाना डाल रहा चिड़ियों को मगर शिकारी है
आग लगाने वाला पानी का व्यापारी है

मछुआरे की नीयत खोटी तब वो समझ सकी
जब कटिया में हाथ फँसी मछली बेचारी है

लोग कबूतर बनकर खाली टुक-टुक ताक रहे
उसकी जुमलेबाज़ी में कितनी मक्कारी है

रंग बदलने वाली उसकी फ़ितरत भी देखी
वो गिरगिट-सा मतलब से ही रखता यारी है

यारो मरने की खातिर तो दहशत ही काफ़ी
मान लिया कोरोना इक घातक बीमारी है

काँटे अपने-आप उगे हैं होगी बात सही
फिर भी माली की भी तो कुछ ज़िम्मेदारी है

दिल के भीतर ज़हर भरा हो यह भी हो
सकता
लोग यही बस देख रहे हैं सूरत प्यारी है।

(3)

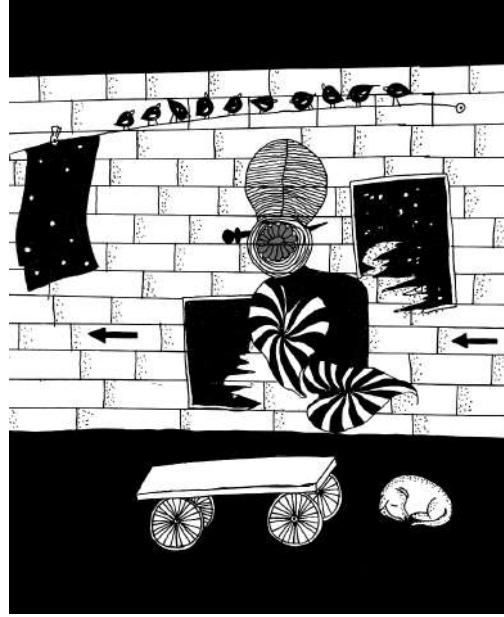
पर्वत जैसे लगते हैं बेकार के दिन
हम भी काट रहे हैं कारागार के दिन

रोशनदानों पर मकड़ी के जाले हैं
उतर गए हैं भीतर तक आँधियार के दिन

मैंने पूछा कब तक देखूँ चाँद तुझे
वो बोला जब तक हैं ये दीदार के दिन
चारों तरफ़ दिखे केवल कोरोना ही
कितने दरदिले हैं ये संहार के दिन

लाशों के अंबार लगे हैं दुनिया में
देख लिए दुनिया ने हाहाकार के दिन

कान फटे जाते हैं झूठे बोलों से
याद बहुत आते हैं वो ऐतबार के दिन



मन में यह विश्वास हमारे है लेकिन
जल्दी ही लौटेंगे फिर से प्यार के दिन।

(4)

छूट गया घर तब जाना घर क्या होता है
कोरोना ने दिखलाया डर क्या होता है

सारे सपने मेरे भी हो जाते पूरे
चूक गया तब जाना अवसर क्या होता है

बचपन में मैंने भी मूरत पूजा की है
टोकर खाकर जाना पत्थर क्या होता है

ठेकेदारों और कहीं जाओ तो अच्छा
मुझको है मालूम कि ईश्वर क्या होता है

भटक गया मंज़िल से तब एहसास हुआ
राह दिखाने वाला रहबर क्या होता है

आप नहीं समझेंगे भीतर की ज्वाला को
आग न बुझ पाए तो रोकर क्या होता है

साथ रहा वो जब तक उसकी क्रूर नहीं की
बिछड़ गया तो समझा दिलबर क्या होता है

जिनके खेतों में उगती है सिर्फ़ निराशा
उनसे जाकर पूछो बंजर क्या होता है। □

● सात गज़लें : नूर मुहम्मद नूर



जन्म : 17 अगस्त, 1952 कुशीनगर (उत्तर प्रदेश)। पाँच दशक से निरंतर लेखन। हिन्दी की तमाम छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में अब तक दस हजार से अधिक विभिन्न विधाओं की रचनाओं का प्रकाशन। पाँच किताबें प्रकाशित। रेलवे से सेवानिवृत्त। संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

(1)

सिर्फ गज़लें कहोगे सर, पूछे
मुझमें कोई पटर-पटर, पूछे

कब तनोगे, कटोगे, चमकोगे
मेरे सर से ही मेरा सर पूछे

ठीक तो जा रहे, पता कर लो
रास्ता मुझसे, दर-ब-दर पूछे

माँग ली क्या सलामती की दुआ
घर से निकलूँ तो रोज़ घर पूछे

अब तो शोला बनो, ज़रा भड़को
अपनी ही आग से शरर पूछे।

(2)

हैं निगाह में पहाड़ के मंज़र
और उस पे उजाड़ के मंज़र

दिल के अरमाँ के चीथड़े, टुकड़े
ओह, हरसू कबाड़ के मंज़र

ज़िंदगी सिल रही है फट-फट के
कैसे-कैसे जुगाड़ के मंज़र

क्राफ़िले हौसलों के थर-थर से
साँप सूँघे दहाड़ के मंज़र

ताड़ सबने बना दिया तिल का
आओ, देखें तिहाड़ के मंज़र।

(3)

आओ लफ़्ज़ों हवा करो मुझको
और कुछ बासदा करो मुझको

जाने किस आग में झुलसता हूँ
ए दरख़्तों, हरा करो मुझको

मैं भी मीठी जुबान वाला हूँ
ए परिंदो! सुना करो मुझको
रास्ते का मैं आदमी ठहरा
रास्तों में मिला करो मुझको

सुन मेरा नाम अस्सी फ़ीसद है
हक़ जो मेरा, अदा करो मुझको।

(4)

भाव इतना गिरा ज़माने में
बिके लोग चार आने में

जा खँगालो हक़ीक़तें उनकी
कुछ नहीं है मेरे फ़साने में

अब भी रूठा हुआ है इक ज़ालिम
खर्च सदियाँ हुई मनाने में

अब ये मल्बों पे बैठ क्या रोना
वक़्त लगता है घर बनाने में

खुद में लफ़्ज़ों के माफ़्रत देखो
हो रहा खर्च आज़माने में

नूर की दास्तान, मत पूछो
उम्र बीती है मार खाने में।

(5)

बातचीत से हल निकलेगा
क्या पत्थर से जल निकलेगा

क्या तपते सहारा से दरिया
आज नहीं तो कल निकलेगा?

दैरोहरम की इस परती से
क्या कोई चटकल निकलेगा

चाहे जितनी धूप कड़ी हो
पानी से बादल निकलेगा

गाँठ बाँध लो 'नूर' ठीक से
तेरा भी कसबल निकलेगा।

(6)

यूँ ही बेकार मत गँवा मुझको
ज़िंदगी और कुछ कमा मुझको

आँधियों ने मुझे जिलाया है
रास आती नहीं, हवा मुझको

अब भी हर लम्हा आज़माती हैं
मेरी आँखें मेरी हया मुझको

खुद को ज्यों ढक रहा हूँ लफ़्ज़ों से
ढूँढती फिर रही, सदा मुझको

अच्छी लगती हैं अपनी तारीफ़ें
खा न जाए ये वाह-वाह मुझको

खुश अँधेरे में 'नूर' है जबकि
रोशनी कर रही ख़फ़ा मुझको।

(7)

समुंदर में समाना चाहती है
नदी अब खुद, नहाना चाहती है

सहे जो ज़ख़्म, प्रदूषण के उसने
समुंदर को दिखाना चाहती है

ये हरियाली तो सहाराओं को जैसे
गले अपने लगाना चाहती है

ये शातिर तीरगी, अब क्या बताऊँ
उजाले को फँसाना चाहती है

घुटन है 'नूर' पूछो तो वहाँ से
वो किसके गीत गाना चाहती है।

□

● छह गज़लें : माधव कौशिक



जन्म : 1 नवंबर, 1954 (भिवानी, हरियाणा) ।
36 पुस्तकें प्रकाशित। कई पुस्तकों का
विभिन्न भाषाओं में अनुवाद। कई प्रतिष्ठित
पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : राष्ट्रीय
साहित्य अकादमी के उपाध्यक्ष।

(1)

शहरों के खूनी मंज़र हैं वैसे ही
सब के हाथों में खंजर हैं वैसे ही

हैराँ हूँ, ज़िल्लत ही ज़िल्लत है, फिर भी
सही-सलामत सब के सर हैं, वैसे ही

पानी प्यास बुझा सकता तो बुझ जाती
नदी किनारे के पत्थर हैं, वैसे ही

अंदर से सबकी दीवारें दरक चुकीं
दिखने में बस सारे घर हैं, वैसे ही

इतिहासों में दर्ज हैं क्रिस्से जुल्मत के
हर पंछी के घायल पर हैं, वैसे ही

कुछ भी कहाँ बदल पाया है, दुनिया में
दुखी रियाया, सब रहबर हैं वैसे ही।

(2)

खुदा के सामने हर बार रोए
मगर लगता है सब बेकार रोए

हमारे दर्द की सुन कर कहानी
जमाना क्या सकल संसार रोए

छपी जब क़त्ल की ख़बरें हज़ारों
सवेंरे सैकड़ों अख़बार रोए

अकेला मैं नहीं, मायूस तुम बिन
शहर के सब दरो-दीवार रोए

वसदुत है कि रुकना ही नहीं है
कोई रोए तो कितनी बार रोए

कई मिसरे ग़ज़ल के तिलमिलाए
कई ग़ज़लों के कुछ अशयार रोए।

(3)

लोग तो कहते रहे क्या सोच कर
हमने किया

सुख अंगारों पे तय पूरा सफ़र हमने किया
घर बनाने में तो पहले हो गए खुद ही फ़ना
और फिर बरबाद खुद अपना ही घर हम
ने किया

वो भी दिन देखे हैं हमने खुद ही अपनी
आँख से
खून से कलियों के अपना हाथ तर हमने
किया

आप तो फूलों के साए में ही बैठे रह गए
जिंदगी तेरे लिए कितना सफ़र हमने किया

आँख में आँसू लिए बैठे रहे कुछ देर तक
इस तरह लंबा फ़साना मुख़्तसर हमने किया

जब कभी दुनिया में कुछ भी काम का
कुछ ना बचा
शायरी को अंत में, पेशे-नज़र हमने किया।

(4)

सभी का आसमाँ है एक जैसा
मगर इनसाँ कहाँ है एक जैसा

सभी का दर्द बिल्कुल ही अलग है
मगर सब का बयौ है एक जैसा

इसे मंदिर कहो, मस्जिद या गिरजा
खुदा का हर मकाँ है एक जैसा

कहीं थोड़े, कहीं ज़्यादा से ज़्यादा
शहर ख़ाली कहाँ है एक जैसा

हज़ारों साल का परखा है हमने
जहाँ का हर समाँ है एक जैसा

किसी में कम न ज़्यादा है किसी में
सभी में वो जिहाँ है, एक जैसा

चलो, उस मुल्क में जाकर बसेंगे
हरेक इनसाँ जहाँ है एक जैसा।

(5)

दुनिया का सब मालो-ज़र बेमानी है
आँधी में तिनकों का घर बेमानी है

ख़्वाबों का धुंधला मंज़र बेमानी है
इस मंज़र का पसमंज़र बेमानी है

फेंकने वाले बाजू में गर जान नहीं
हाथ में पकड़ा हर पत्थर बेमानी है

जो भी आया, निश्चित इक दिन जाएगा
हर लम्हा फिर मौत का डर बेमानी है

उड़ने वाले बिन पंखों के उड़ते हैं
पंछी का क्यों टूटा पर बेमानी है

तूफ़ानों से आँख मिला कर, डटे रहो
झुका हुआ शायर का सर बेमानी है।

(6)

आग लगती तो समुंदर की दुहाई देता
झूठ कहता तो भी मैं सच की गवाही देता

चीखने वाले बड़ी ज़ोर से चीखे थे मगर
कान होते तो तुम्हें शोर सुनाई देता

पाँवों के छालों को छूने से अगर डर जाता
कौन लफ़्ज़ों को मेरे पीर पराई देता

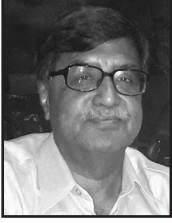
सर झुकाए मैं यहाँ कब से खड़ा हूँ अब भी
अपने हक़ में मैं बता कितनी सफ़ाई देता

तेरी काजल के किनारे पे कहीं डूब गया
चाँद पानी में उतरता तो दिखाई देता

फिर तो आँखों में उजालों के कँवल भी
खिलते
वक़्त हाथों को अगर रंगे-हिनाई देता

मुझ से दुनिया ने मगर लफ़्ज़ के मोती माँगे
किस तरह कैसे कोई सारी कमाई देता। □

● चार गज़लें : सुनील मिश्र



जन्म : 19 अगस्त, 1954 (मधुबनी)।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में गज़लें,
कविताएँ एवं कहानियाँ प्रकाशित।
संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

(1)

मैंने सच का स्वाद चखा है और मैं ही भरमाया हूँ
खुद में चाहे पुख्ता हूँ, पर टूटते पुल का पाया हूँ

कौन चुनौती दे उनको जो बंद घरों में बैठे हैं
मैं अपनी ही आवाज़ों से बार-बार टकराया हूँ

ठिठुर-ठिठुर कर लोग मर गए सूरज की कोताही से
मुझ पर यह इल्जाम लगा है धूप चुराकर लाया हूँ

चुपके-चुपके चमन मेरी नादानी पर मुस्काता है
किस मौसम का फूल ढूँढ़ने किस मौसम में आया हूँ

सच तो यह है सच की खातिर कोई परेशाँ है ही नहीं
वे भी अपना आप नहीं हैं मैं भी अपना साया हूँ

इस महफ़िल में शोर बहुत है यह मेरी रहगुजर नहीं
ख़ामोशी से चल दूँ उठकर ख़ामोशी से आया हूँ

चमन के रंगो-बू में जाने अब ये कैसा फ़र्क आया
वो ही मुझसे शर्मिदा हैं मैं जिनका सरमाया हूँ।

(2)

बड़े क्रांतिल अरमान ले के लुटेरा निकला
जो लुटे उनमें ही एक घर मेरा निकला

कुछ तो स्याही में यक़ीनन गुज़रा होगा
शब के ख़ौफ़ में डूबा-सा सवेरा निकला

हाथों में पत्थर लिए सब रह गए भौंचक्के
साँप की बांबी से जो बूढ़ा सँपेरा निकला

एक मुश्किल सफ़र जो कभी तय न हुआ
सब के अपने ही वजूद का घेरा निकला



जहाँ जश्न में मशगूल मिले सारे रहज़न
वो बस्ती के मुहाफ़िज़ का बसेरा निकला।

(3)

रहज़न चुप था रहबर चुप था और मुसाफ़िर लुटकर चुप था
ऐन जहाँ पर हुआ हादसा वो गवाह था मंज़र चुप था

एक मुकम्मिल शाहकार पर इल्ज़ामों की झड़ी लगी थी
इधर खुदा चुप्पी साधे था और उधर कारीगर चुप था

सबकी नज़रों में थे क्रिस्से, तरह तरह के, झूठे-सच्चे
कुछ अजीब-सा ये मक्काम था अफ़सर चुप थे शायर चुप था

जाने कैसा चमक रहा था एक अज़ाब-सा उसका चेहरा
कहा नहीं था कुछ भी उसने, लगता था कुछ कहकर चुप था

खोल रहा था सधे हाथ से सिले हुए सब ज़ख़्म पुराने
नाखूनों की धार देखकर खून में डूबा खंज़र चुप था।

(4)

दूर जाने का इरादा न था कोई
पास रहने का वादा न था कोई

कुछ कुर्बतों के फ़ासले दरम्याँ थे
यूँ देखिए तो दरम्याँ न था कोई

आँखें किस आस में देखतीं आगे
अरमानों का क्राफ़िला न था कोई

हरेक शक़ल बदली-सी लगती थी
यूँ महफ़िल से उठा न था कोई

बेहिंसी इस दिल की क्या कहिए
यहाँ कभी आया गया न था कोई।

□

हिन्दी-काव्य में ग़ज़ल

ज़हीर कुरेशी



जन्म : 5 अगस्त, 1950 (मध्यप्रदेश)।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ
प्रकाशित। हिन्दी ग़ज़लकार। ग्यारह
ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित। इसके अतिरिक्त
संस्मरण-संग्रह और साक्षात्कार पुस्तक भी
प्रकाशित। पच्चीस ग़ज़लें दो विश्वविद्यालयों
के एम.ए. के पाठ्यक्रम में भी शामिल। कई
पुरस्कारों से सम्मानित।

‘हिन्दी काव्य में ग़ज़ल’ सबसे पहले तो ‘ग़ज़ल’ है- जिसने उर्दू ग़ज़ल की काव्य-परंपरा को आत्मसात् करते हुए अपना विकास किया है। समकालीन हिन्दी ग़ज़ल ने उर्दू ग़ज़ल के रास्ते पर चल कर ही पाँच दशक लंबी यात्रा पूरी की है। वह भी वज़न और बहर को मानती है और अरबी अक़ानों का पालन करने वाले इल्मे-अरूज़ को स्वीकार करते हुए हिन्दी की प्रकृति, पहचान और शब्द-शक्ति से हिन्दी साहित्य के अनुभव-कोष को विस्तार दे रही है। हिन्दी ग़ज़ल भी ‘ग़ज़ल’ को स्वीकार करती है और शेर कहते हुए अभीष्ट सांकेतिकता की अधिकतम रक्षा करना चाहती है।

हिन्दी ग़ज़ल के पास अपनी विराट शब्द-संपदा है, मिथक है, मुहावरे हैं, बिंब हैं, प्रतीक हैं, रदीफ़ हैं, क़ाफ़िया हैं। इस प्रकार, समकालीन हिन्दी ग़ज़ल पारंपरिक ग़ज़ल की छायावादी शैली से मुक्त होने का प्रयास भी है तथा शिल्प और विषय का उत्तरोत्तर विकास भी हमें इसमें परिलक्षित होता है। इस प्रक्रिया एवं विकास की पृष्ठभूमि में समकालीन जीवन की जटिल परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण हैं। ये सारी परिस्थितियाँ केवल देश और भाषा से ही जुड़ी हुई नहीं हैं, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर घटित हो रहे नए राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सूचना-तकनीकी परिवर्तन भी इसकी पृष्ठभूमि में हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि हिन्दी ग़ज़ल का उद्भव अकस्मात् नहीं हुआ। इसका अपना रूपायन आज की गतिशील संघर्ष प्रक्रिया का ही परिणाम है।

ग़ज़ल वर्णिक छंद है, जिसकी व्याकरणीय शुद्धता जाँचने की कसौटी उसकी (अरबी) बहर है। सोने को सोना सिद्ध होने के लिए कसौटी की जाँच-परख से गुज़रना ही पड़ता है। उसी तरह, हिन्दी ग़ज़ल भी उर्दू ग़ज़ल की शैली में अरबी बहरों को मानती है और अपनी परख के लिए ‘बहर’ की छंदानुशासी ‘तक्तीअ’ के लिए तैयार है।

हिन्दी के कुछ नए अरूज़ियों (छंद-शास्त्रियों) ने ‘रुकन’ और ‘बहरों’ के हिन्दी नामकरण की चेष्टाएँ की हैं। उनके इस अतिशय प्रयत्न से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता। उसके लिए एक ही तर्क है। फ़ारसी ग़ज़ल ने अरबी अक़ान को स्वीकार किया, उर्दू ग़ज़ल ने भी अरबी अक़ान का अनुगमन किया, फिर हिन्दी ग़ज़ल का ग़ज़ल के सर्व-स्वीकार्य मानकों से हटने का क्या औचित्य है? नए मानक स्वीकृत होने तक, हिन्दी ग़ज़ल को

जिन अंतर्द्वंद्वों से गुज़रना पड़ेगा, उससे बेहतर है कि वह अरबी बहर स्वीकार कर, अपने को केवल मन, वचन, कर्म से हिन्दी की ग़ज़ल सिद्ध करे। यह हिन्दी ग़ज़ल के लिए अधिक उदार, समावेशी और सरल रास्ता है।

आरंभिक तौर पर नई विधाओं के साथ हमेशा संशय बने रहते हैं। पचास वर्ष की आयु हिन्दी ग़ज़ल के साथ भी है लेकिन, आधी सदी की इस कालावधि में भाषाई स्तर पर मध्य-मार्गी हिन्दी ग़ज़लकारों ने ग़ज़ल के चरित्र और मिज़ाज को समझा है। अनेक आत्म-संघर्ष एवं विमर्शों से गुज़रने के बाद, हिन्दी में ग़ज़ल कहने वाले अधिकांश ग़ज़लकारों ने भाषाई स्तर पर एक बीच का रास्ता चुन लिया है। आज मध्य-मार्गी हिन्दी ग़ज़लकार ही हिन्दी ग़ज़ल की काव्य-परंपरा को आगे बढ़ाने वाले गतिमान ग़ज़लगो माने जा सकते हैं।

रदीफ़, क़ाफ़िया, मतला, बहर, तक्तीअ आदि मूलभूत सिद्धांतों को मानते हुए भी, हिन्दी का समकालीन ग़ज़लकार उर्दू ग़ज़ल की निर्मोक्त बातों को नहीं मानता—

(1) उर्दू के केवल उन प्रचलित शब्दों को ही समकालीन हिन्दी ग़ज़ल में मान्य किया जाता है, जो सचमुच आज की जन-भाषा में लोकप्रिय हैं। उदाहरण के लिए सियासत, जुबान, मज़ा, रौनक, इक़िलाब, परचम, पैग़ाम आदि जैसे जन-प्रवाह में घुले-मिले शब्दों को तो हिन्दी ग़ज़ल के शेरों में उपयोग कर लिया जाता है लेकिन, साकित, ग़र्काब, फुसूँगर, तकल्लुम, बरहम, सम, तलातुम आदि शब्दकोष में देखकर समझने योग्य उर्दू शब्दों को हिन्दी ग़ज़लकार अपनी शायरी में उपयोग में नहीं लाते।

(2) उर्दू में तराकीब (विभक्ति-कौशल) से बनाए गए शब्दों लज़्ज़ते-अहसासे-उल्फ़त, जुस्तजू-ए-खुद, चश्मे-नम, करारो-लुत्फ़ आदि को समकालीन हिन्दी ग़ज़ल शेरों में अस्वीकार करती है।

(3) ‘राज़’ का क़ाफ़िया ‘आज’ से और ‘आगाज़’ का सानुप्रास ‘ताज’ से मिलाने वाले ग़ज़लकारों को हिन्दी ग़ज़ल में हतोत्साहित किया जाता है।

(4) समकालीन हिन्दी ग़ज़ल में (2+1) पदभार के अनेक (शहर, जम्अ, दख़ल, रहम, सहल, सुब्ह, सुल्ह, शम्अ, फ़सल, नक्रद, वह्य, वजह आदि) शब्दों को (1+2) के पदभार (शहर, जमा, दख़ल, रहम, सहल, सुबह, सुल्ह, शमा, फ़सल, नक्रद, वहम, वजह) में उपयोग किया जा रहा है क्योंकि हिन्दी आलेख,

कहानी, छंद-मुक्त/ मुक्त-छंद कविता, गीत, दोहे में उपरोक्त जन-प्रवाह में लोकप्रिय उर्दू शब्द (1+2) के पदभार में ही प्रयोग किए जाते हैं।

(5) इसी प्रकार, पियाला, परवा, ज़ियादा, खँडर, मुआमला, मुआफ़, मसअला, मशअल, तज़रुबा, क़िल्आ जैसे लोकप्रिय उर्दू शब्द हिन्दी ग़ज़ल में प्याला, परवाह, ज़्यादा, खँडहर, मामला, माफ़, मसला, मशाल, तज़ुर्बा, क़िला शब्दों के रूप में उपयोग किए जा रहे हैं।

समकालीन हिन्दी ग़ज़ल की इसी व्याख्या के क्रम में, यह बताना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि रदीफ़, क़ाफ़िया, मतला, बहर, तक्तीअ आदि मूलभूत सिद्धांतों को मानने वाली हिन्दी ग़ज़ल आज उर्दू ग़ज़ल की और कौन-कौन सी बातों का अनुसरण कर रही है—

(1) प्रायः देखा गया है कि उर्दू ग़ज़ल में ‘अलिफ़’, ‘ये’ आदि के क़ाफ़िए स्वीकार्य हैं जिनके कारण शेरों में सानुप्रास सरल हो जाते हैं। हिन्दी ग़ज़ल भी अपने शेरों में बड़े आ, बड़ी ई, बड़ा ऊ, ए, ओ वर्णों की मात्राओं के क़ाफ़िए (उर्दू ग़ज़ल की शैली में ही) उपयोग कर रही है।

(2) उर्दू ग़ज़ल में मिसरे या शेर की आवश्यकतानुसार मेरा, तेरा, कोई, और, वो आदि शब्दों को मिरा, तिरा, कुई, उर, वु पढ़ा जा सकता है। तक्तीअ करते हुए, उपरोक्त शब्दों की मात्रा दबा कर पढ़ने की स्थिति में ही गणना की जाती है। हिन्दी ग़ज़ल भी इस सुविधा का पूरा-पूरा लाभ उठा रही है। इसी प्रकार, नियमानुसार का, की, के, से, को, लो, दोनों, जाएगी, रहे, किया, ऐसा, देखो, है, हैं, पी, सकते, सकता, उठना, जागना, आपकी रखी, था, थी, हूँ आदि शब्दों की अंतिम (दीर्घ) मात्राएँ गिराई जा सकती हैं अर्थात् दीर्घ होते हुए भी, अंतिम वर्णों को कई बार उर्दू ग़ज़ल में लघु गिना जाता है। समकालीन हिन्दी ग़ज़ल ने उर्दू की इस सुविधा को स्वीकार कर लिया है और शायरी में नियमानुसार इसका उपयोग कर रही है।

(3) उर्दू ग़ज़ल में वस्ल के नियम से शायरी को बहुत लाभ हुआ है। वस्ल के नियम के अंतर्गत शेर में अगर दो शब्द

एक-दूसरे के निकट हैं। पहले शब्द का अंत (लघु) व्यंजन वर्ण के रूप में हो रहा है और दूसरे निकट के शब्द का आरंभ (दीर्घ) स्वर वर्ण के रूप में हो रहा है, तो व्यंजन और स्वर को वस्ल (संयुक्त) किया जा सकता है। जैसे मिसरा है—

(अ) बहुत थक गया हूँ, कुछ आराम दे दो
वस्ल करने के बाद, मिसरे को यूँ पढ़ा जाएगा—

बहुत थक गया हूँ, कुछाराम दे दो

(ब) मिसरा है—

अगर और जीते रहते, यही इन्तिज़ार होता

वस्ल करने के बाद, मिसरे को कुछ यूँ पढ़ा जाएगा—

अगरौर जीते रहते, यही इन्तिज़ार होता

उल्लेखनीय है कि समकालीन हिन्दी ग़ज़ल ने वस्ल (संयुक्त करने) की इस सुविधा को पूरी तरह स्वीकार कर लिया है और अपने शेरों में नियमानुसार इसका उपयोग भी कर रही है।

(4) उर्दू ग़ज़ल में, आवश्यकतानुसार मिसरे के अंतिम शब्द के सर्वांतिम लघु वर्ण को (तक्तीअ के समय) लोप करने की सुविधा है। जैसे मिसरा है—

दूर तक फैली हुई तन्हाइयों में तेरी याद

(तक्तीअ करते समय) मिसरा यूँ पढ़ा जाएगा—

दूर तक फैली हुई तन्हाइयों में तेरी या

आवश्यकतानुसार मिसरे के अंतिम शब्द के अंतिम लघु वर्ण को लोप करने की सुविधा का लाभ समकालीन हिन्दी ग़ज़ल भी उठा रही है।

पाँच दशक लंबी यात्रा के बाद, समकालीन हिन्दी ग़ज़लकारों के आत्मविश्वास में काफ़ी वृद्धि हुई है। देवनागरी में, लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशनों से इल्मे-अरूज़ (ग़ज़ल के छंद शास्त्र) की अधिकारिक पुस्तकों के बाज़ार में आने के बाद, हिन्दी के नए ग़ज़लकार भी वज़न, बहर, तक्तीअ जैसे ग़ज़ल के मूलभूत सिद्धांतों से ‘लैस’ दिखाई दे रहे हैं। हिन्दी के ग़ज़लकारों के पास समकालीनता की बेहतर समझ तो है ही। फलस्वरूप आज की हिन्दी ग़ज़ल मुख्यधारा की कविता होने के मार्ग पर पूरे विश्वास के साथ आगे बढ़ रही है। □

आजकल के ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका-----का □ एक वर्ष (230 रुपये)

□ दो वर्ष (430 रुपये) □ तीन वर्ष (610 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूँ।

शुल्क का रुपये-----डिमांड ड्राफ्ट

-----दिनांक-----संलग्न है।

हस्ताक्षर-----

नाम

:-----

पता

:-----

पिन : □□□□□□

● कृपया अपना चंदा डी.डी. महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के नाम बनाएँ।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● ‘आजकल’ पत्रिका ऑनलाइन ख़रीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएँ।

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएँ हैं : बाल भारती, आजकल (उर्दू), कुरुक्षेत्र (हिन्दी व अंग्रेज़ी), योजना (हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

संपादक (प्रसार)

प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

लंबा सफ़र तय करना है

हृदयेश मयंक



जन्म : 18 सितंबर, 1951 (जौनपुर)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। कविता, ग़ज़ल, नवगीत और आलोचना की 15 पुस्तकें प्रकाशित। 'चिंतनदिशा' त्रैमासिक पत्रिका का संपादन-प्रकाशन। दो सौ से अधिक कवि-सम्मेलनों का संयोजन और संचालन। कई महत्वपूर्ण पुरस्कारों से सम्मानित।

वरिष्ठ शायर सूर्यभानु गुप्त सितंबर में अपनी उम्र के 80वें पायदान को पार कर लेंगे। वे हिन्दी कविता की उठापटक के उस दौर के शायर हैं, जिस दौर में उर्दू शायरी अपने उफान पर थी। फिल्मों से लेकर काव्य-मंचों तक हर ओर उर्दू के नामचीन शायरों का ही बोलबाला था। अली सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी, मजरूह सुल्तानपुरी, जाँनिसार अख़्तर आदि सर्वत्र छाए हुए थे। हिन्दी में तबतक ग़ज़लें कम ही कही-लिखी जा रही थी। तब दुष्यंत कुमार का उतना नाम न था जितना आज लिया जाता है। सूर्यभानु गुप्त उस दौर के शायर हैं जिस दौर में धरती प्यासी रही है, आकाश से आग बरसी है, आदमी को क्रदम-क्रदम पर बाधाओं और विभाजन की दीवारें झेलनी पड़ी हैं। सांप्रदायिकता और धर्मांधता, भाषावाद और भाई-भतीजावाद जैसी राजनीति के चलते अभिव्यक्ति की आज़ादी पर पाबंदियाँ भी झेलनी पड़ीं। इतना ही नहीं आपातकाल का भी दरिया पार करना पड़ा है। इन्हीं हालात में तपना पड़ा है उनके कवि को। ऐसे दौर में उन्होंने रोज़ी-रोटी के संघर्ष के साथ-साथ लेखकीय लक्ष्य तक पहुँचने के लिए भी ज़बरदस्त संघर्ष किया है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में आत्मविश्वास, माटी की गंध और दर्द और आँसुओं में रचे अनुभवों का एहसास होता है। सामाजिक काहिलता के वे मूकदर्शक नहीं हैं। तभी तो वे कहते हैं—'जिनके अंदर चिराग़ जलते हैं/ घर से बाहर वही निकलते हैं/ गर है फ़रहादियत इरादों में/ पत्थरों के भी दिल पिघलते हैं'।

सूर्यभानु गुप्त की अनगिनत रचनाएँ अपने कालखंड व समय की चेतना में नहाई हुई हैं। उनमें व्यंग्य का एक अद्भुत पुट है जो शायद उनके दौर के दूसरे शायरों के पास नहीं है। उनके यहाँ प्रयोगों का एक खुला संसार है जो उन्हें औरों से अलग करता है।

उनकी ग़ज़लों में पीर है, जो उनकी ही नहीं वरन् उस कालखंड की है, जिसे कवि ने अपने मन का जामा पहनाया है। कभी बासंती तो कभी काजली, कभी साँवली तो कभी सलोनी—'जब भी खिलते हैं फूल फागुन में/ लोग करते हैं भूल फागुन में' ऐसे विरल अनुभूतियों और प्रयोगों के शायर सूर्यभानु गुप्त से एक आत्मीय बातचीत के कुछ अंश प्रस्तुत हैं—

प्रश्न : इस कठिन कोरोना काल में आप कैसे हैं? क्या लेखन हो पा रहा है इन दिनों?



उत्तर : आजकल अस्वस्थ चल रहा हूँ। तबियत ठीक नहीं रहती। ऐसे में लिखना तो यदा-कदा ही हो पाता है। उम्र का दबाव बढ़ रहा है। आपसे बातचीत करते हुए सर घूम रहा है। एकाकी जीवन और अब तो शरीर भी अशक्त हो रहा है। उस पर समय और इस विकराल महामारी की ख़बरें बेचैन करती हैं। हम किस दौर में आ गए हैं जो ये दिन भी देखने पड़ रहे हैं? लगता है कि ये सन्नाटा हमें लील जाएगा।

आपके विचार से हिन्दी ग़ज़ल स्थापना के दौर में है या स्थापित हो गई है?

स्थापित हो गई है। चर्चा जितनी ग़ज़लों की होती है उतनी अन्य किसी विधा की नहीं। लेखन बहुतायत में हो रहा है और सकारात्मक भी जिसमें समकाल भी अपनी शिद्दत के साथ

उपस्थित हो रहा है। हालाँकि प्रशंसा और ख्याति के लिए पहले भी लोग ग़ज़ल की तरफ़ आए पर टिक नहीं सके। यहाँ वही रह सकता है जिसके पास भाषा हो और नया कहने का सलीका भी हो। लोकप्रियता की दौड़ में बहुत लोग आए पर वे शीघ्र ही पलायन भी कर गए। कुछ लोग ही टिके रहे जिनके पास कुछ कहने की क़ूवत थी। जो टिके और निरंतर कुछ नया कहते रहे उनका महती योगदान है इस विधा की स्थापना में।

यह प्रायः विवाद का विषय बना हुआ है कि कथ्य की दृष्टि से हिन्दी ग़ज़ल और उर्दू ग़ज़ल में काफी असमानताएँ हैं पर शिल्प की दृष्टि से दोनों समान हैं। दोनों के बुनियादी पक्षों में क्या अंतर है?

मेरी समझ से हिन्दी ग़ज़ल जनोन्मुखी ज्यादा है उर्दू की बनिस्बत। हालाँकि उर्दू में प्रगतिशील शायरों की एक लंबी फ़ेरिहस्त है जो जनपक्षधरता के ही पैरोकार थे। जदीद उर्दू शायरी में भी कई नाम लिए जा सकते हैं जो हिन्दी ग़ज़लकारों के समानांतर जनपक्षीय लेखन करते रहे हैं जैसे निदा फ़ाज़ली, मोहम्मद अल्वी, आदिल मंसूरी आदि। पर हिन्दी में बड़ी संख्या में लोग निखर कर आए। समय और हालात पर क़लमें चलाई जो जनता को बहुत रुची। प्रयोगों का भी ख़ूब दौर चला। ख़ूब प्रयोग हुए और चर्चित भी हुए। उन दिनों मेरे अलावा बलबीर सिंह रंग, शमशेर बहादुर सिंह, बालस्वरूप राही, भवानी शंकर, चंद्रसेन विराट, शेरजंग गर्ग, हनुमंत नायडू, जहीर कुरेशी जैसे लोग लिख रहे थे। सबके अपने-अपने रंग थे। ये लोग ख़ूब चर्चित भी थे।

कहा जाता है कि हिन्दी में ग़ज़ल का उदय दुष्यंत कुमार से होता है, ऐसा मानते ही पहले के ग़ज़लकारों के साथ नाइंसाफी हो जाती है जिसमें आप भी हैं?

ग़ज़ल तो पहले से भी कही जा रही है। पुराने कवियों में कबीर को छोड़ भी दें तो आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, हरिऔध, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने भी ग़ज़लें कहने-लिखने की कोशिश की थी। उन्होंने शीघ्र जान लिया था कि वे इसमें सफल नहीं होंगे। इसमें महारत हासिल करने में पूरी उम्र खपानी पड़ेगी। लिहाज़ा स्वतंत्र रूप से जिस विधा में वे प्रवीण थे। अपना लेखन करते रहे। दुष्यंत कुमार की लोकप्रियता के कई कारण हैं। वे अपने समय और हालात पर चुटीला व्यंग्य करते थे, आपातकाल के संदर्भ में कही उनकी ग़ज़लें जनता को ख़ूब भाईं। उन ग़ज़लों में उनकी पीड़ा तो थी ही वह सामुदायिक पीड़ा भी थी। वह पीड़ा फ़िल्मी सिचुएशन की तरह फ़िट भी बैठी। जो देश पर बीत रहा था वह सब था उनकी ग़ज़लों में। वे अन्यान्य विधाओं जैसे नाटक, मुक्त छंद, गद्य भी लिखते थे पर सफलता उन्हें ग़ज़ल में ही मिली। कटेंट उनके लेखन में समयोचित भूमिका निभाता रहा। कभी-कभी कोई बात बन जाती है। उनके यहाँ बन गई। कभी-कभी रचना अपने-आप बहुत सुंदर बन जाती है, कभी-कभी प्रयास करने पर भी नहीं बनती। जब बात बनती है तब शेर उतरने लगते हैं। नहीं बनती तो वर्षों लग जाते हैं एक मुकम्मल ग़ज़ल कहने में। सबकी अपनी-अपनी प्रक्रिया है। दुष्यंत कुमार के यहाँ बहुत कुछ है। इसीलिए वे अपने दौर के महत्वपूर्ण शायर माने जाते हैं। मुझे कम नहीं मिला है। मुझे इतना आदर मिला है जो मेरी सोच से परे था। फिर मैंने अपने मनवाने के लिए कभी कोई कोशिश नहीं की। वैसे मेरा हिन्दी ग़ज़ल का सफ़र मात्र पचास-साठ साल का है। अभी लंबा सफ़र तय करना है।

समकालीन ग़ज़लकारों के प्रति आपकी क्या धारणा है? इस पर हो रहे कामों से क्या आप आश्वस्त हैं?

हर शायर या लेखक अच्छा लिखना चाहता है पर अच्छा लिखना सबके बस का भी नहीं है। कुछ तो नैसर्गिक प्रतिभाएँ होती हैं तो कुछ मेहनत और लगन काम आती है। हालाँकि आज का लेखन समय की विद्रूपताओं, विसंगतियों, असंगतियों पर ज्यादा हो रहा है। आजकल हर व्यक्ति स्थापित होना चाहता

है। लोग तरह-तरह के उपक्रम रचते हैं। आलोचकों की नज़र में शीघ्रप्रतिशीघ्र आ जाना चाहते हैं। प्रतीक्षा करने का समय नहीं है लोगों के पास। आलोचक पहले जैसे पारखी नहीं रह गए हैं। कई लोग आलोचक भी गढ़ते हैं। धन, बल पर अपना प्रभा मंडल भी खड़ा करते हैं पर टिकेगा तो वही जिसके पास रचना होगी। कविता या दूसरी विधाओं के लिए पर्याप्त आलोचक हैं पर ग़ज़लों के लिए कम ही हैं। ग़ज़ल तनिक नाजुक विधा भी है। सब लोग इसे समझते भी नहीं। आज भी लोग ग़ज़ल को सामंती धारणा से जोड़ कर देखते हैं। पर कुछ लोग हैं जो निरंतर ग़ज़ल-लेखन पर दृष्टि जमाए हुए हैं जिनमें ज्ञानप्रकाश विवेक, अनिरुद्ध सिन्हा, जीवन सिंह जैसे लोग भी हैं जो नए ग़ज़लकारों को संग्रहित ही नहीं कर रहे हैं बल्कि उनके लेखन की आलोचकीय व्याख्या भी कर रहे हैं। जीवन के समक्ष आई विविध चुनौतियों को आज का शायर जुबान दे रहा है। शिल्पगत संयोजन भी भरपूर किया जा रहा है। कई लोग इस तरह के कार्यों के लिए पहचाने भी जा रहे हैं। जब थोक या बहुतायत में लेखन होता है तो सर्जन की जगह विसर्जन में बदल जाता है। इसे परख कर सही दिशा में प्रेरित करने की आवश्यकता है। कई समीक्षकों/आलोचकों जो स्वयं भी ग़ज़लकार हैं इस दिशा में सक्रिय हैं। उनकी सक्रियता एक उम्मीद जगाती है।

ग़ज़ल : सूर्यभानु गुप्त

अपने घर में ही अजनबी की तरह
मैं सुराही में इक नदी की तरह

एक ग्वाले तलक गया कफ़रू,
ले के सड़कों को बंसुरी की तरह

किससे हारा मैं, ये मेरे अंदर
कौन रहता है ब्रूस ली की तरह!

उसकी सोचों में मैं उतरता हूँ,
चाँद पर पहले आदमी की तरह

अपनी तनहाइयों में रखता है,
मुझको इक शख्स डायरी की तरह

मैंने उसको छुपा के रक्खा है,
ब्लैक आउट में रोशनी की तरह

टूटे बुत रातभर जगाते हैं,
सुख परीशाँ है ग़ज़नवी की तरह

बर्फ़ गिरती है मेरे चेहरे पर,
उसकी यादें हैं जनवरी की तरह

वक्रत-सा है अनंत इक चेहरा,
और मैं रेत की घड़ी की तरह।

वीरान हो गई उर्दू जुबान और अदब की दुनिया

राजेंद्र शर्मा



जन्म : 13 जनवरी, 1966 (सहारनपुर)।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ
प्रकाशित। त्रैमासिक पत्रिका 'शीतल वाणी'
में सहायक संपादक तथा पत्रकारिता से भी
संबद्ध। भारतीय शास्त्रीय संगीत में विशेष
रुचि। संप्रति : वाणिज्य कर अधिकारी,
वाणिज्य विभाग।

देश के बड़े शायर गुलज़ार देहलवी 94 साल की उम्र में कोरोना को हराने के बाद 12 जून, 2020 को ज़िंदगी से हार गए। गुलज़ार देहलवी के दुनिया-ए-फ़ानी को अलविदा होने से उर्दू जुबान और अदब की दुनिया एक बार फिर वीरान हो गई।

7 जुलाई, 1926 को पुरानी दिल्ली के गली कश्मीरियाँ में अल्लामा त्रिभूनाथ जुत्शी 'ज़ार' देहलवी के आँगन में जन्मे आनंद मोहन जुत्शी को शायरी घुट्टी में मिली थी। पिता दिल्ली यूनिवर्सिटी में फ़ारसी विभाग के प्रोफ़ेसर और माता ब्रिज रानी जुत्शी 'बेज़ार' देहलवी दोनों ही उर्दू शायरी के नामचीन चेहरे। शायर माता-पिता की संतान पंडित आनंद मोहन जुत्शी ने बचपन में ही शायरी की शुरुआत कर दी। माता-पिता की शायराना तबियत से फलीभूत आठ बरस के आनंद मोहन जुत्शी की शायरी इस क्रूर लोगों को भाई कि 1933 में उस दौर के उर्दू के नामचीन शायरों ने पिता त्रिभूनाथ जुत्शी 'ज़ार' देहलवी से कहा कि क्यों न बेटे का कोई तख़ल्लुस रख दें। इसके लिए ख़ास-तौर से उनके घर पर बड़े शायरों की एक सभा हुई और उस दौर के नामचीन शायरों ने बालक आनंद मोहन जुत्शी को बतौर शायर 'गुल-ओ-गुलज़ार' नाम का तख़ल्लुस तय किया जो बाद में गुलज़ार देहलवी हो गया।

आज़ादी के आंदोलन के जलसों में अपनी शायरी से आनंद मोहन जुत्शी जोश भरने का काम करते। उनकी शायरी के मुरीद जवाहरलाल नेहरू भी हुआ करते थे। आज़ादी के आंदोलन के दौरान एक दिन अरुणा आसफ़ अली गुलज़ार देहलवी के घर आई और उनके माता-पिता से कहा कि इस बच्चे को हमें दे दीजिए। उस समय गुलज़ार देहलवी मैट्रिक की पढ़ाई कर रहे थे। इसके बाद लगातार वह काँग्रेस के जलसों में देशभक्ति भरी शायरी से जोश भरते रहे। इस बीच उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से एम. ए. और एल.एल.बी. की पढ़ाई भी पूरी की। उर्दू शायरी और साहित्य में उनके योगदानों को देखते हुए उन्हें 'पद्मश्री' पुरस्कार से नवाज़ा गया। 2009 में उन्हें 'मीर तकी मीर' पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। मूल रूप से कश्मीरी पंडित गुलज़ार देहलवी ने अपने

94 साल के जीवन में देश की आज़ादी के लिए संघर्ष, स्वतंत्रता, विभाजन, देश को सँभालना व तरक्की करना, चीन और पाकिस्तान से युद्ध, आपातस्थिति, धर्म, भाषा व जाति के नाम पर दंगे सब कुछ देखा परंतु देश की गंगा-जमुनी तहज़ीब में रंगे शायर गुलज़ार देहलवी अंतिम साँस तक गंगा-जमुनी तहज़ीब में ही रंगे रहे। सफ़ेद चूड़ीदार पायज़ामा, गुलाब के फूल लगी सफ़ेद शेरवानी और सिर पर नेहरू टोपी यही पहचान उनकी आजन्म रही। यह गुलज़ार देहलवी की विद्वता ही कही जाएगी कि एक कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे तत्कालीन उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी ने अपने संबोधन में कहा था कि जब मंच पर गुलज़ार देहलवी जैसे शायर मौजूद हों, ऐसे में मेरा कुछ बोलना बेअदबी होगी।



ख्यात शायर वसीम बरेलवी बताते हैं कि साल 1960 से 1962 तक वे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू कालेज में बतौर उर्दू प्रोफ़ेसर रहे। उस दौर में पुरानी दिल्ली के उर्दू बाज़ार में शायर गुलज़ार देहलवी को उन्होंने जाना और समझा। वसीम बरेलवी दुखी मन से कहते हैं कि ऐसे शायर सदी में विले ही पैदा होते हैं। नए शायरों को आगे बढ़ाना गुलज़ार देहलवी का शगल था।

गुलज़ार साहब के पंडित नेहरू से घनिष्ठ संबंध रहे। गुलज़ार देहलवी हर बरस विजयदशमी पर नेहरूजी को रामलीला ग्राउंड की रामलीला में लेकर आते थे। गुलज़ार साहब इस रामलीला के मुख्य आयोजकों में रहे परंतु इन संबंधों को भुनाना गुलज़ार देहलवी की फ़ितरत में नहीं था। एक शायर के लिए इससे बड़ा सम्मान क्या हो सकता है कि पंद्रह अगस्त 1947 को दिल्ली में आज़ादी के जश्न को संबोधित करते हुए देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने गुलज़ार देहलवी की लिखी नज़्म को अपने संबोधन में पढ़ा था।

गुलज़ार देहलवी के नाम से जाने जाने वाले पं. आनंद मोहन जुत्शी एक युग के प्रतीक थे.. बेहद विनम्र.. कविता के लिए समर्पित.. उनका जाना एकता के एक मज़बूत स्तंभ का ढह जाना है...!

● पाँच गजलें : बल्ली सिंह चीमा



जन्म : 2 सितंबर, 1952 (अमृतसर)।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ
प्रकाशित। चार पुस्तकें प्रकाशित। कई
प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित।

(1)

हुए जिस धर्म में पैदा जपी उसकी नहीं माला
समय की माँग के चलते नया रस्ता बना डाला

सड़े रस्मों-रिवाजों और अंधविश्वास से निकलो,
समय के सच्च को समझो हटा दो ज़हन से जाला

कसौटी पर कसो हर शय भले वो धर्म क्यों ना हो,
मुहम्मद, बुद्ध, नानक ने तो ये करके दिखा डाला

हमारे देव जिंदा हैं हमें विश्वास है जब तक,
मगर साइंस के आगे कोई टिकने नहीं वाला

जहाँ जन्मा है तू बल्ली उन्हीं के गीत गाया कर,
हमें मालूम है तू कुछ नया करने नहीं वाला।

(2)

प्रणवीर के लिए

बहुत ताक़त है डॉलर में इसे पहचानता है वो
मगर पैसा नहीं सब कुछ ये सच भी जानता है वो

बड़ा है हर धर्म इक दूसरे से जानता है वो
मगर सबसे बड़ी इंसानियत है मानता है वो

समय से ताड़ लेता है बुरे वक्तों की आहट को,
बड़ी तैयारियों के साथ तम्बू तानता है वो

मेरा बेटा मेरे दुश्मन को भी सम्मान देता है,
किसे कैसे हराना है बखूबी जानता है वो

बहुत विश्वास है बल्ली उसे आँखन की देखी पर,
मगर कागज़ की लेखी के वरक़ भी छानता है वो।

(3)

रेट गिरे हैं आटे के और सस्ती हो गई थाली है
क्या गेहूँ की नई फ़सल मंडी में आने वाली है

अब के मौसम अच्छा था तो अब के फ़सलें अच्छी हैं,
जाने क्यों सरकार ने बाहर से गेहूँ मँगवा ली है

बात किसान की करता है अब हर नेता ही मंचों पर,
शायद जल्दी ही वोटों की फ़सल भी पकने वाली है

क़र्ज़ किसान का माफ़ करेंगे नेताओं के वादे सुन,
अर्थव्यवस्था के भडुओं ने सूरत अजब बना ली है

मेहनत भूखी सोती है और ऐश निकम्मे करते हैं,
पूँजीवादी दुनिया की तो हर इक रस्म निराली है

क्यों आरोप लगाते हो इक साफ़ छवि की महिला पर,
वशवाद ये नहीं है बल्ली वो नेता की साली है।

(4)

सत्तर साल में भी तो नगदी फ़सल नहीं बन पाई ईख
कब तक गेहूँ, धान उगाते मजबूरी में बो दी ईख

कैश लगे है खेती में क्यों बिके है फ़सल उधारी में,
हाथ किसान के कुछ नहीं आता चीनी है बन जाती ईख

दोमुँहे नेता ने फिर भी बात किसान की मानी ना,
हमने गुस्से में आकर फिर चौक में आज जलाई ईख

गुड़ की कच्ची दारू बन कर दर्द किसान का पीती है,
सरकारी मोहर लग जाए तो विस्की है बन जाती ईख

आंदोलन की गर्मी में तो गन्ने का रस अमृत है,
पेप्सी, कोला वालों को भी हमने आज पिलाई ईख।

(5)

चीन-वुहान में जन्मा था जो उसको कब आएगी मौत
संकट में है दुनिया सारी, दुनियाँ पर है छाई मौत

पशुओं को यह कुछ नहीं कहता इंसानों को मारे है,
कोरोना को मान रही है अपना छोटा भाई मौत

जात-धरम का पता नहीं है नाम है उसका कोरोना,
हिंदू-मुस्लिम कोई भी हो, देता है अनचाही मौत

साफ़ हवा है, साफ़ गगन है प्रदूषण का नाम नहीं,
देखो एक फ़रिश्ता बनकर कुदरत के घर आई मौत

मानव जात को काट रही है कोरोना की कैंची से,
दुनिया कम करनी हो जैसे बन बैठी है नाई मौत

विज्ञान बचाएगा जीवन को रब के बस की बात नहीं,
जीवन ही जीतेगा इक दिन कोरोना की होगी मौत

भूख तो मौत से भी ज़ालिम है शाम-सवेरे लगती है,
कौन है जिससे पूछे बल्ली भूख को कब आएगी मौत।

संपर्क : मो. 7452970255, ई-मेल : ballijankavi@gmail.com

● पाँच गज़लें : अनिरुद्ध सिन्हा



जन्म : 2 मई, 1957 । विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। 17 पुस्तकें प्रकाशित। कुछ पुस्तकों का संपादन। कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

(1)

गलतियों से तो जुदा तुम भी नहीं
हम भी नहीं
आदमी हैं, देवता तुम भी नहीं हम भी नहीं

फ़ितरतों में झूठ शामिल है हमारी दोस्तो
सच तो ये है आईना तुम भी नहीं
हम भी नहीं

हाँ, हमारे बीच में भी है अना की
इक लकीर
वरना इतने बेवफ़ा तुम भी नहीं हम भी नहीं

मुड़के देखें या न देखें रास्तों में हम कभी
एक दूजे से ख़फ़ा तुम भी नहीं हम भी नहीं

क्रद से बढ़ जाएँ नहीं हम तुम कभी
यह देखना
इस सदी के परसा तुम भी नहीं
हम भी नहीं।

(2)

कई सपनों के शीशे में जड़ा है
तू आखिर किन उसूलों पर खड़ा है

मेरा क्रद है मेरे साए से छोटा
तेरा साया तेरे क्रद से बड़ा है

जो रातों में हुआ था ख़्वाब रौशन
सुबह देखा अँधेरों में पड़ा है

हमारा सच है जो हम जी रहे हैं
तुम्हारा सच दलीलों पर अड़ा है

हमारा क्रद उसे लगता है छोटा
कई कंधों पे चढ़कर जो खड़ा है।

(3)

कई सवाल थे जिनका जवाब दे आया
उसे मैं एक मुकम्मल किताब दे आया

कोई भी क़र्ज़ नहीं रक्खा अपने कंधे पर
हिसाब चुकता किया सब हिसाब दे आया

मैं और कुछ तो नहीं दे सका मगर यारो
दिलों में बच्चों के इक इंकलाब दे आया

दिए थे जिसने मुझे सिर्फ़ काँटे ही काँटे
मैं उसको खिलता हुआ इक गुलाब दे आया

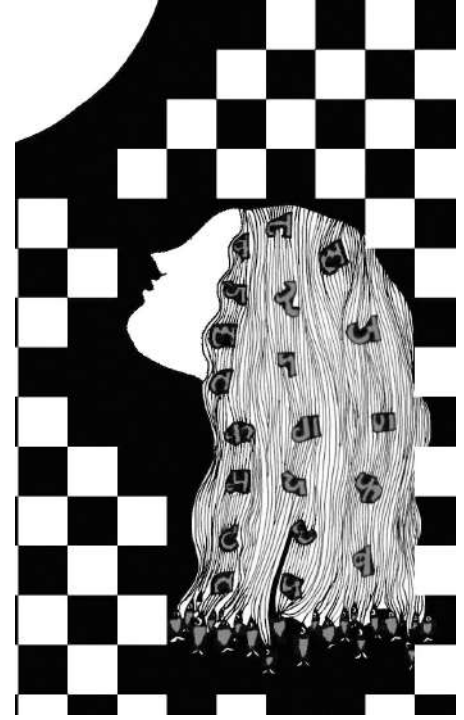
गया था मिलने मैं कुछ टूटे-फूटे लोगों से
कई बुझी हुई आँखों को ख़्वाब दे आया।

(4)

दिल ने सोचा ही नहीं राह की मुश्किल
की तरफ़
मैं दबे पाँव निकलता गया मंज़िल की तरफ़

और कब तक वो छुपा रहता घनी बस्ती में
उँगलियाँ उठ ही गई अम्न के क़ातिल
की तरफ़

मेरी ग़ज़लों के बदल जाते हैं तेवर उस पल
जब नज़र जाती है इतिहास के
हासिल की तरफ़



उनको तूफ़ान की लज़्ज़त का पता क्या होगा
पाँव मुड़ जाते हैं जिन लोगों के साहिल
की तरफ़

इक तेरी याद भुलाने से हुआ ये हासिल
सैकड़ों मुश्किलें आई हैं मेरे दिल की तरफ़।

(5)

तेरा ख़्याल अगर दम-बदम नहीं होता
हमारी फ़िक्र का मौसम ये नम नहीं होता

छलक-छलक के बुझा देते हैं जिसे आँसू
वो शोला बुझके भी शोले से कम नहीं होता

तमाम मोड़ निगाहों में कब कहाँ आते
मेरे परो में जो उड़ने का दम नहीं होता

किसी तलाश की हद से गुज़रने वालों को
सफ़र में धूप का कोई सितम नहीं होता

समय का हुस्न निगाहों में भर लिया मैंने
हवा खिलाफ़ अगर हो तो ग़म नहीं होता। □

● चार गज़लें : कमलेश भट्ट कमल



जन्म : 13 फरवरी, 1959 (सुल्तानपुर, उत्तर प्रदेश)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। कहानी, ग़ज़ल, हाइकु, साक्षात्कार और बालसाहित्य पर 20 पुस्तकें प्रकाशित। 'संगमन' मंच के संस्थापक सदस्य। कई पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : उत्तर प्रदेश वाणिज्य कर विभाग से एडिशनल कमिशनर पद से सेवानिवृत्त।

(1)

वो हारा है तो बस हालात ही से,
वो हारा ही कहाँ है ज़िंदगी से!

छुपा लेता है हर आँसू अँधेरा,
वो बचता है यूँ ही कब रोशनी से!

रटा करता है वह भी दोस्ती ही,
जिसे लेना न देना दोस्ती से!

वो क्यों मायूस भी होती ही आखिर,
नदी को लेना भी था क्या किसी से!

बताए खुद ही वो दुनिया को आकर,
किसी को जो मिला हो दुश्मनी से!

वो क्या तो जीने-मरने की भी सोचे,
हो जिसका रोज़ पाला खुदकुशी से!

दुखों में मौन रह जाता है वह बस,
गुज़र जाते हैं सुख भी ख़ामुशी से!

लगे चाहे कि कुछ होता नहीं है,
मगर होता तो है कुछ आरती से!

हमें उसने नहीं क्या-क्या दिया है,
हमें लेना ही क्या था शायरी से!

(2)

जंगल खेत बगीचे पर्वत नदियाँ
और तड़ाग लिए,
हम जीते हैं दुनिया का
कितना-कितना भू-भाग लिए!

यह प्रतिरोध नहीं कुदरत का
तो फिर वह क्या है बोलो,
बाढ़ लिए नदियाँ आ जाएँ,
जंगल अपनी आग लिए!

हमको उन पहरेदारों का भी
तो कोई ख़ौफ़ नहीं,
जीती है धरती भीतर जो इतने सारे नाग लिए!

कुदरत के उपकार न जाने
कितने-कितने हैं हम पर,
हम धरती पर ज़िंदा हैं कितने
जीवों का त्याग लिए!
खुद से बाहर की दुनिया की रंच नहीं हमको
चिंता,
हम जीने निकले हैं
केवल अपने राग-विराग लिए!

दिन-दिन मन मैला-ही-मैला होता जाता है
भाई,
हम सब बैठे रह जाते हैं नासिक और प्रयाग
लिए!

हमको फुर्सत होगी तब ही हम
उनको सुन पाएँगे,
मंच सजाए कुदरत बैठी है जो इतने राग लिए!

हम थोड़ा अवकाश निकालें उनसे भी
बतियाने का,
फूल तो स्वागत में कब से हैं
खुशबू और पराग लिए!

अब भी आकुल-व्याकुल है मन
भीतर-भीतर डरता है,
हम किस ओर चले आए हैं इतनी
भागमभाग लिए!

(3)

शराब पर शराब कर रहा है,
समय फिर-फिर हिमाकृत कर रहा है!

कहाँ जाओ कहाँ ख़तरे नहीं हैं,
कोई है जो हिफ़ाज़त कर रहा है!

रहे घर में ही कोई बंद कब तक,
ये बागी मन बगावत कर रहा है!

बसा जिस वक़्त से साँसों में कोविड,
वो बस साँस ही साँस कर रहा है!

उन्हें घुटनों पे लाकर भी ने छोड़ा,
वो राई सारे पर्वत कर रहा है!

तो देखा काम आई ही नहीं वह,
जो तू दौलत-ही-दौलत कर रहा है!

वो बेटा है मगर है आजकल का,
यही क्या कम है इज़्ज़त कर रहा है!

हुई थी मुझसे भी कुछ गलतियाँ कल,
ये मन लानत-मलामत कर रहा है!

ख़रीदो तुम किसी को और जाकर,
मेरा ईमान दिक्कत कर रहा है!

(4)

अगर सच-सच कहूँ तो उनसे कुछ उम्मीद
ही कब थी,
दिखावा भर थी उनकी दोस्ती, वह दोस्ती
कब थी?

न जाने किस सनक किस झोंक में चुप रह
गया था मैं,
अँधेरे ही अँधेरे थे वहाँ भी,
रोशनी कब थी?

सियासत ने तो लगभग मार ही डाला था
उनको भी,
पड़े थे ख़्वाब कुछ बिखरे वहाँ पर ज़िंदगी
कब थी?

बही है होके निर्मल जिस तरह पिछले दिनों
कल-कल,
नहीं है याद हमको, वैसी यह भागीरथी कब
थी?

शहर क्या मुल्क तक वीरान हो जाएँगे इक
दिन सब,
ये दुनिया इस तरह से इससे पहले सोचती
कब थी?

नज़र से देख तो लेते हैं पर छूने से डरते हैं,
बताओ आदमी की इस तरह की बेबसी
कब थी?

गुज़रता जब भी हूँ इतिहास से, हैरान होता हूँ,
लहू से जो नहाई हो नहीं, ऐसी सदी कब थी?

शहर से गाँव उमड़ी थी ये पहली बार देखा था,
शहर जाती थी वर्ना भीड़
वापस लौटती कब थी? □

● पाँच गजलें : ऋषिकेश



जन्म : 25 दिसंबर 1955 (सीतामढ़ी, बिहार)।
मूलतः कवि और गजलकार। नौवें दशक में
साहित्यिक पत्रिका 'समकालीन परिभाषा'
का प्रकाशन-संपादन। 'समकालीन मैथिली
साहित्य' और 'समकालीन हिन्दी कहानियाँ'
का संपादन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में
आलेख, समीक्षा, गजल आदि प्रकाशित।

(1)

हम इशितहारों से समाज बनाने में लगे हैं,
लोग अपनी-अपनी डफली बजाने में
लगे हैं

रंगों को मजहबों में तक्कसीम कर देने वाले,
अपना-अपना इंद्रधनुष सजाने में लगे हैं

चिड़िया चुप, कुत्ते खामोश, सन्नाटा
दहशतज्जवा
निर्जन रास्ते मगर शोर मचाने में लगे हैं

हौसला है, नया घोंसला बनाने में लगे हैं,
बुत अरमानों का गोया सहलाने में लगे हैं

सियासी शतरंज की चाल दुहराने में लगे हैं,
गजब, देश के अंदर देश बनाने में लगे हैं

गुज्रिस्ता उम्र बीती मुसलसल नींद की
क्रेद में,
अब आधी रात उठ पराती गाने में लगे हैं

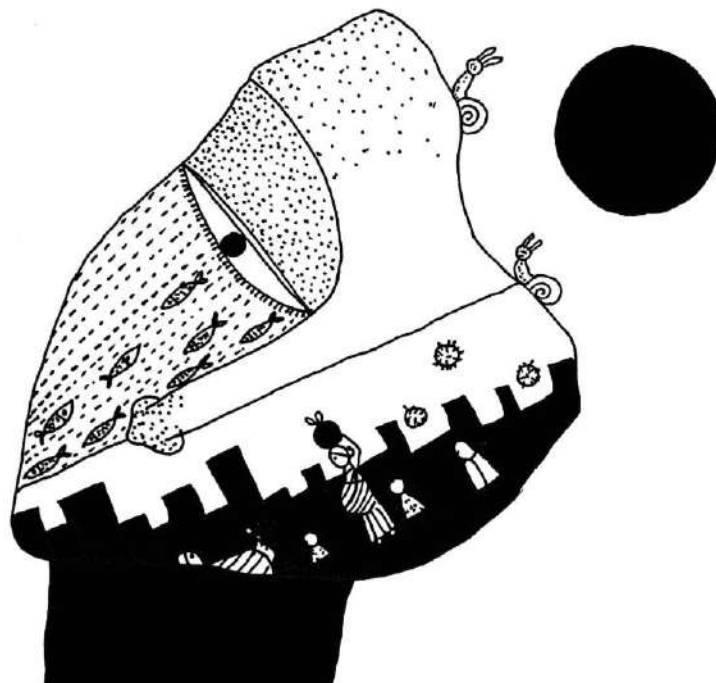
मठाधीश तो अपना गणित बिठाने में
लगे हैं,
चले आपदा को अवसर बनाने में लगे हैं।

(2)

ख्वाबों की आहट, आहटों की खामोशी
चलो, बाँट लेते हैं, अपनों की उदासी

जर्द पत्ते-सा दिन, मरघटी धूसर रातें
गुमशुदा है समय, शहरें लेती उबासी

टीसती आगत समय की किरचें नुकीली
माटी है अतीत, वर्तमान अहिल्या-सी



फ़ासलों की सज़ा गुज़र जाए तो बेहतर
कुदरत का क्रहर या करतब हो सियासी

चंद गुमशुदा एहसास, चंद शिकवे बासी
चलो, बाँट लेते हैं, अपनों की उदासी

(3)

इस एहतियात से बदली आस्था की तस्वीर
कल तक पत्थर था आज शिवालय हो गया

जिंदगी रीत रही दौड़ते, भागते, थकते
घर था जो कभी अब प्रतीक्षालय हो गया

दो रोटियाँ और वर्गफुट में नपा आकाश
मानो दुनिया नहीं, अनाथालय हो गया

भक्तजनों की पलकें बोझिल हुईं नशे से
मनमंदिर भक्तों का क्यों मदिरालय हो गया

रेत से बह गए सुखों के अनगिन पहाड़
क्रद अबूझ दर्द का आज हिमालय हो गया।

(4)

आम आदमी बापू की लँगोटी जैसा है
संसदीय हिंसा का चेहरा खादी टोपी जैसा है

शगल पालतू होने का छोड़ दिया कुत्तों ने
विवशताएँ मानव की गले में चमौटी
जैसा है

आक्राओं के पँचतारा स्वाद का क्या गिला
करना

आदमी सफ़ेद तश्तरी में माँस की बोटी
जैसा है

निरर्थक उँगलियों पर गिनना नक्षत्रों के नाम
मौसम की चाल भी शतरंज की गोटी
जैसा है

कुसूर उसका नहीं, भूख की वेदना का है
दोस्तो

डूबता सूरज लगता, बाज़रे की
रोटी जैसा है।

(5)

जब से हुई दोस्ती, फूस और आग की
रह गई झोपड़ियाँ ढेर बस राख की

संजीदगी से फूँकोगे तो जाहिर होगा
आदमी चिंगारी है, ओढ़े कफ़न राख की

होम करने वाले हाथ जलते रहे हैं अक्सर
आज यज्ञमंडप जला बात नहीं इत्तेफ़ाक़ की

माँ का हीरा, बाप का मोती, दादी के
लाख की
थी कभी अनमोल, अब ये जिंदगी है
खाक की। □

● चार गज़लें : सुरेन्द्र विक्रम



(1)

फख था जिनको कभी अपने नसीबों पर,
आज वे ही टँग रहे हैं खुद सलीबों पर

ये वतन के रहनुमा हैं वोट पर जिंदा,
और खाते हैं तरस यूँ ही गरीबों पर

जिनकी साँसों ने वतन को जिंदगी दी है,
मौत भी कुर्बान है ऐसे हबीबों पर

काट डाले हैं जिन्होंने पर परिंदों के,
खुद खुदा नाराज़ है उन बदनसीबों पर

क्या अजब है जो दिलों में दूरियाँ करते,
दिल लुटाए जा रहे हैं उन रक्कीबों पर।

(2)

जिंदगी कैसा अनोखा खेल है,
रफ़ता-रफ़ता आगे बढ़ती रेल है
बाँटती फिरती है सबको रोशनी,
जिंदगी ऐसे दिये का तेल है

फूल के संग खार भी मिलते यहाँ,
जिंदगी सुख और दुख का मेल है

अपनी मर्जी तो कभी चलती नहीं,
जिंदगी तो सच में टेलमटेल है

जिसमें रहना है सभी को उम्रभर,
जिंदगी है या कि कोई जेल है।



(3)

आज हर इंसान बौना हो गया है,
वक्त्र का सचमुच खिलौना हो गया है

डर रहा है दुनियादारी देखकर,
जिंदगी से उसका गौना हो गया है

पी रहा है खून जिस्म निचोड़कर
आदमी कितना धिनौना हो गया है

जब करे मर्जी बिछाओ ओढ़ लो
आदमी ऐसा बिछौना हो गया है

देखते ही आँख में गड़ने लगा
आदमी ऐसा डिठौना हो गया है।

(4)

तुम्हारी कल की मजबूरी,
सुनो प्रिय मैं समझता हूँ
हुई अनजान में दूरी
सुनो प्रिय मैं समझता हूँ

घुटन होती थी राहों में मगर
करते तो क्या करते
तुम्हारी ज़िद हुई पूरी सुनो प्रिय
मैं समझता हूँ

कोई अपना-पराया जन्म से
होता नहीं, लेकिन
बनाते ख़्वाब अँगूरी सुनो प्रिय
मैं समझता हूँ

कसक होती है जब भी टूटता है
मौन का दर्पण
दरकते स्वप्न सिंदूरी सुनो प्रिय
मैं समझता हूँ

घटा धिरने से पहले
मोर के पंखों की बेचैनी
अभी लगती अधूरी है सुनो प्रिय
मैं समझता हूँ

‘तीर्थोदक’ : उभयनिष्ठ नज़र से

पल्लवी प्रसाद



जन्म : 7 दिसंबर, 1969 (भावनगर, गुजरात)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। दो उपन्यास प्रकाशित। स्व-अनुवादित पुस्तकें भी प्रकाशित।

फणीश्वरनाथ रेणु के पहले कहानी-संग्रह ‘ठुमरी’ की एक पुरानी, खस्ताहाल प्रति, जिसकी मूल कीमत 8 रुपये थी, 50 रुपयों में जालंधर के माँ-हीराँ गेट इलाके के एक दुकानदार ने मुझे बेची थी। मैंने पहली बार इसी संग्रह से रेणु की कहानी ‘तीर्थोदक’ पढ़ी थी। आज तक जितने भी साहित्यिक विद्वान मेरे संपर्क में आए, उनमें से बिरला ही कोई ऐसा मिला जिसने इस कहानी का नाम सुना हो। यह कहानी खोई नहीं है परंतु प्रतीत होता है यह पाठकों की विस्मृति की शिकार हो गई है। आज दशकों से यह कहानी साहित्यिक चर्चाओं के बाहर है। संभवतः स्वयं रेणु ने अपनी प्रिय कहानियों के संकलन में इसका शुमार नहीं किया। यदि यह बात है, तो कहना होगा कि लेखक के चयन से असहमति बनती है चूँकि ‘तीर्थोदक’ एक अद्वितीय कहानी है।

‘तीर्थोदक’ कहानी एक संभ्रांत घर की बहू-बेटों, पोते-पोती, नौकरों-चाकरों वाली उम्रदराज़ गृहिणी की अपने पति व समाज से बगावत करने की कथा है। हमारी उम्रदराज़ नायिका का नाम-पहचान है ‘लल्लू की माँ’ और वह इसलिए बगावत करती है क्योंकि वह तीर्थयात्रा पर जाना चाहती है। हमारे यहाँ परिवार व समाज के समक्ष व्यक्ति और उसकी अभिलाषाएँ नगण्य आँके जाते रहे हैं। हमारे पास बहुहिताय का पारंपरिक गरीबी-सूत्र है। किसी ‘एक’ की बात सदिग्ध मानी जाती है। विशुद्ध मनोरंजन को पाप की श्रेणी में रखा जा सकता है। जो समाज पुरुषों को मालिक मानता है लेकिन उन्हें भी बाधित व कुठित करता है, ऐसा समाज स्त्रियों को स्वप्न कैसे देखने दे सकता है भला? हमारे धर्म और समाज स्त्री के पक्ष में खड़े नहीं होते, वे उसके माता-पिता व बंधुओं को उसके हित में खड़े होने नहीं देते, ऐसे में स्त्री का परमेश्वर उसका पति ही है। पति को परमेश्वर मानने में तब कैसा गुरेज़? परमेश्वर सहाय हो तो स्त्री का राज-पाट है, वह अपनी आँख टेढ़ी कर ले तो स्त्री का तीनों लोक में ठौर नहीं।

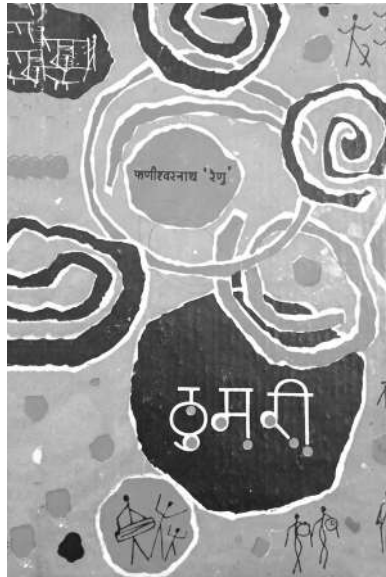
हमारी एक सांस्कृतिक विशेषता है। हमारे जीवन में आने वाले उपलक्ष्यों पर धार्मिक संस्कार का मुलम्मा चढ़ा हुआ है। इस

मुलम्मे के बगैर मानो हमारे लिए कुछ भी जायज़ नहीं। जन्म, विवाह, मृत्यु, आगमन, विदाई, विजय, सहभोज, इस प्रकार के हरेक उत्सव को धर्म और संस्कार की आड़ प्राप्त है। इस आड़ के रहित कोई भी क्रिया या कार्य, चाहे नृत्य, गायन, संगीत, सिनेमा जैसी कलाएँ हों अथवा लेखन और पाठन जैसी साधना हो, उन्हें परिवार और समाज हतोत्साहित करते आए हैं। पूर्व में हर साधक को पहले अपने परिवेश से लड़ना पड़ा है। हमारी नायिका, लल्लू की माँ तीर्थयात्रा पर जाना चाहती है। यह उसकी धार्मिक अभिलाषा है। इसलिए यह हर दृष्टि में जायज़ है लेकिन लल्लू

की माँ आखिर स्त्री ठहरी! उसे अपने परमेश्वर की अनुमति प्राप्त नहीं। बजरंग चौधरी अपनी पत्नी की सेवा के इतने आदी हैं अर्थात् वे लल्लू की माँ को इतना ‘टेकन फ़ॉर ग्रांटेड’ लेते हैं कि परिवार और सेवकों से भरे अपने घर में भी वे पत्नी के सिवाय किसी अन्य के द्वारा तैयार किया गया हुक्का-पीना पसंद नहीं करते। इस सिक्के का दूसरा पहलू यह है कि पत्नी को इस बात की खुशी है कि उसका पति उस पर पूर्ण रूप से निर्भर है, उसका परमेश्वर उसकी मुट्ठी में है। मुश्किल यह है कि परमेश्वर अपनी मुट्ठी ढीली नहीं करता और स्वयं की सेवा से इतर, पत्नी को उसकी अपनी इच्छा पूर्ण करने नहीं देता है।

वर्ष 2012 में बनी फिल्म ‘इंगलिश-विंगलिश’ की अथेडवय गृहिणी नायिका कहती है, “मुझे प्यार नहीं, आदर चाहिए।” इससे पहले कभी किसी स्त्री ने स्पष्ट शब्दों में यह माँग सार्वजनिक रूप से

रखी हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। सार्वजनिक की बात दूर, स्त्रियाँ व्यक्तिगत तौर पर भी मुखर नहीं हो पाती हैं। ‘तीर्थोदक’ कहानी लगभग 70 वर्षों पहले लिखी गई है। लल्लू की माँ यह बात शब्दों में नहीं कहती है कि उसे आदर चाहिए परंतु उसका आचरण आदर की माँग करता है, वह अपना प्राप्य चाहती है। उसके पास रहने के लिए छत है, गहने-लत्ते, गृहस्थी का राज, पति, परिवार है अर्थात् जिन चीज़ों को समाज-परिवार और खुद स्त्री भी, तथाकथित ‘प्रेम’ का पर्याय मानते हैं वैसी हर चीज़ लल्लू की



माँ के पास है लेकिन फिर भी वह उद्वेलित है क्योंकि उसका पति तीर्थयात्रा पर जाने की उसकी एकमात्र ख्वाहिश का सम्मान नहीं करता है।

‘तीर्थोदक’ कहानी का आरंभ ही गृह-क्लेश से होता है। गृहस्वामी बजरंग चौधरी कुपित हैं। परिवार के सदस्य और नौकर उनके कोप से भयभीत हैं परंतु गृहस्वामिनी लल्लू की माँ तीर्थ पर जाने के अपने निर्णय पर अडिग रहती हैं। शोरगुल सुनकर पड़ोसी भी जुट जाते हैं। पारिवारिक मित्र बोध बाबू लल्लू की माँ को समझाने की कोशिश करते हैं। उनकी बातों का तात्पर्य कुछ इस प्रकार है कि हालाँकि किसी को तीर्थयात्रा पर जाने से रोकना पाप है, फिर भी पति यानी परमेश्वर की अवज्ञा कर के तीर्थ पर जाना उचित नहीं है। लल्लू की माँ का बड़ा बेटा शंकर जो परिवार का कर्ता है, चुप रहता है। उसकी पत्नी उसे जो सीख देती है, वह रोचक है। बहू का मानना है कि ससुर के क्रोध को बेवजह न्यौता गया है अर्थात् इस क्लेश की दोषी उसकी सास हैं, ससुर नहीं। वह अपने पति से कहती है कि घर की शांति भंग कर के तीर्थयात्रा पर जाने से उन्हें कौन-सा सुफल प्राप्त होगा? पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियाँ पुरुषों पर निर्भर हैं और वे आपस में स्पर्धा का भाव रखती हैं। पितृसत्ता सबसे पहले स्त्रियों के बीच आपसी सहानुभूति और सौहार्द को नष्ट करती है। पितृसत्ता का आधार स्त्रियाँ हैं। वह उनकी प्रतिस्पर्धा पर पनपती है। जब तक हम उसका आधार सिर्फ पुरुषों में ढूँढ़ेंगे, हम उससे निजात नहीं पा सकेंगे। पितृसत्ता लिंगभेद का प्रवर्तक है परंतु वह स्वयं लिंगभेदी नहीं, वह स्त्रियों को अपना साधन बखूबी बनाती है। लल्लू की माँ अपने ज्येष्ठ पुत्र शंकर को ताना मारती है कि वह इलाज के नाम पर बहू को ‘इल्ली-दिल्ली’ घुमाता है लेकिन माँ की सुध नहीं लेता। बहू तपाक से जवाब देती है कि उसने पति के पैसे का एक पान भी नहीं खाया है। उसके काका ही जानते हैं कि उन्होंने उस पर कितना खर्च किया है। वस्तुतः परिवार की दोनों स्त्रियों की दशा समान है। वे असंतुष्ट हैं परंतु वे दोनों ही पुरुषों के बनिस्वत एक-दूसरे पर दोषारोपण करती हैं। इस तरह उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं आता। भारतीय पितृसत्तात्मक परिवारों का यही मूल चरित्र है।

लल्लू की माँ का मँझला पुत्र विष्णु, जो एक रात पहले हॉस्टल से लौटा है और जिसे सुबह देर तक सोने की आदत है, इस झगड़े से जाग उठता है और कोफ्त महसूस करता है। यह एक स्वार्थी पात्र प्रतीत होता है, जो बाप के पैसे से पढ़ ही नहीं रहा है बल्कि सिगरेट भी फूँका करता है। वह बाप के आदेश की अवमानना करता है और बहन के ससुराल उसे लाने नहीं जाता है। इसलिए माँ-बाप दोनों उससे रुष्ट हैं। इधर लल्लू की माँ ऐलान करती है कि उसे किसी की ज़रूरत नहीं है। उधर विष्णु अपनी माँ के पास आता है और तीस रुपये माँगता है, जो उसे अपने मित्र को लौटाने हैं क्योंकि वह मित्र से उधार लेकर शहर से माता-पिता की तस्वीर मढ़वा कर लाया है। वह माँ से कहता है कि यदि वह पैसे नहीं देगी तो वह घर का बकरा बेच देगा। इस तरह हम देखते हैं कि कैसे सब लल्लू की माँ से अपना मतलब साधते हैं लेकिन जब माँ को उनकी ज़रूरत पड़ती है तब उसके तीनों पुत्र अथवा परिवार के अन्य सदस्य उसके लिए उपस्थित नहीं रहते हैं।

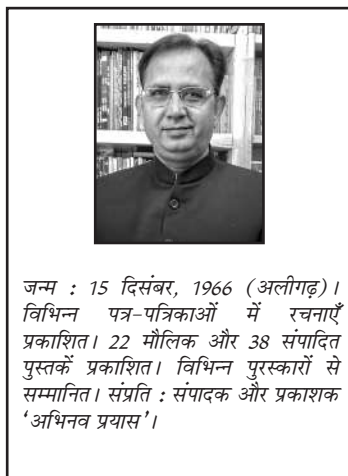
बूढ़ी अपने कुल-देवता को प्रणाम करती है। वह संभ्रांत घर की होते हुए तथा घर में पति व जवान पुत्रों की उपस्थिति के बावजूद, स्टेशन जाने के लिए पैदल निकल पड़ने को मजबूर होती है। स्टेशन तक, सिर्फ गठरी उठाने के लिए घर की नौकरानी

मखनी उसके संग हो लेती है। लल्लू की माँ को कोई विदा नहीं करता है बल्कि दरवाजे पर खेल रहे दो साल के पोते भूलोटन को बजरंग चौधरी वहाँ से उठा लाने का आदेश देते हैं, यह कहते हुए कि लल्लू की माँ का क्या भरोसा! मानो तीर्थ पर जा रही उनकी स्त्री कोई चोर-उचक्की हो अथवा उनके वंश की शत्रु हो। यह अतिरिक्त अपमान लल्लू की माँ सहती है और स्टेशन चली जाती है।

यहाँ से कहानी में दृश्य बदल जाते हैं। आज के आधुनिक समय में कार्यरत विविध यात्रा एजेंसियों की सेवाओं की उत्पत्ति कब और कैसे हुई होगी, इसके सूत्र हमें इस कहानी में दृश्य होते हैं। देवघर के पंडे का सिपाही (जैसे आज का ट्रैवल एजेंट) गाँव से तीर्थयात्रियों को इकट्ठा करने के लिए आता है। वह सभी यात्रियों की टिकट व अन्य सुविधाओं की पूर्ण व्यवस्था करता है। पंडे के सिपाही खंखड़ ओझा के रहते किसी को किसी बात की चिंता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। हालाँकि लल्लू की माँ पहली बार घर से बाहर अकेली निकली है किंतु उसे अपने गाँव वालों और सिपाही के रहते किसी बात का डर नहीं है लेकिन उसके दुःख और अपमान बार-बार ताजे हो उठते हैं क्योंकि उसका तीर्थ पर अकेले जाना सभी लोगों के लिए कौतूहल का विषय है। खंखड़ ओझा अफ़सोस जतलाता है कि इतने बड़े परिवार से वह अकेली ही तीर्थ पर आई है, सहयात्री घूटर साह की बूढ़ी तंज कसती है कि अपने बेटे ही बात न सुनें, इससे तो निपूती होना भला है। डोमन की सौतेली माँ कहती है कि जिस दिन उसके बेटे ने उसकी बात सुनने में आनाकानी की, उस दिन से वह उसका मुँह भी नहीं देखेगी। लल्लू की माँ मन ही मन कट-कट कर रह जाती है। इतना ही नहीं, बूढ़ानाथ मंदिर का मैथिल पंडा लल्लू की माँ को अकेला आया देख कर, उसे बजरंग चौधरी की विधवा समझ लेता है। इस बात से लल्लू की माँ मर्माहत हो उठती है।

अपने घर से झगड़ कर निकले हुए इंसान को बाहर चैन कहाँ? तिस पर यदि वह इंसान औरत हो तो उसे अपने साथियों और समाज के बीच पग-पग पर अपमान का घूँट पीना पड़ता है। हमारी संस्कृति ने पाँच हजार सालों में स्त्रियों के लिए इतनी व्यवस्था तो रख ही छोड़ी है कि “जिस घर में उसकी डोली जाए, उसी घर से उसकी अर्धी उठे।” डोली और अर्धी के बीच का स्त्री-जीवन ब्लैक-होल है, जिसका रहस्य न तो कोई जानता है और न ही जानना चाहता है। बहरहाल, ‘तीर्थोदक’ कहानी पढ़ते हुए पाठक को ऐसी गंभीर बातों का एहसास भी नहीं होता है। यह कहानी ट्रैजिक नहीं है। लेखक की अन्य कहानियों की तरह यह कहानी भी ‘रेणु मार्का’ स्वाद-सुगंध-लय ताल से धड़कते हुए किसी चलचित्र-सी है। पाठक को पता भी नहीं चलता है कि वह कहानी में कब समा गया है और तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा है। इसका मुख्य कारण यह है कि हम सभी अपने पारंपरिक पारिवारिक परिवेश के इतने अभ्यस्त हैं कि इस कहानी के पात्रों व उनकी परिस्थितियों में हम स्वयं को और अपने परिजनों को आसानी से देख सकते हैं और खूब मनोरंजित होते हैं। घरेलू स्त्रियों की अनदेखी और उनके द्वारा किए गए समझौतों के हम इतने आदी हो चुके हैं कि कहानी में घटित होता हुआ सबकुछ सामान्य और मजेदार लगता है, जैसे चटपटे पारिवारिक या पड़ोस के क्रिस्से। यह कहानी इतनी मजेदार है कि कईयों को दुःख-अपमान की बातें विमर्शाना गल्प भी लग सकती हैं। पितृसत्ता हमें स्वीकार्य जो है। कहानी का अंत सुखद है। वह इतना सुखद है कि लल्लू की माँ, काशी के पंडे की बेटी को अपनी भावी बहू के रूप में देखने

● चार राजलें : अशोक अंजुम



जन्म : 15 दिसंबर, 1966 (अलीगढ़)।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ
प्रकाशित। 22 मौलिक और 38 संपादित
पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न पुरस्कारों से
सम्मानित। संप्रति : संपादक और प्रकाशक
'अभिनव प्रयास'।

(1)

आदमी यूँ आदमी के काम आए
इक दिया ज्यूँ रोशनी के काम आए

आँख में आँसू का बादल रख सलामत
खुश्क हो मौसम नमी के काम आए

कुल जहाँ अपना जिसे माने बने अब
ऐसा मजहब जो सभी के काम आए

मेरे मौला तेरी कुदरत को नमन है
खोदे जो खाई उसी के काम आए

वाक़या ऐसा कोई लाना न ख़बरी
देश में जो सनसनी के काम आए

मत ज़हर घर में कभी रखना मियाँ
जो बेखुदी में खुदकुशी के काम आए

जिंदगी सच में फ़क़त वह जिंदगी है
जिंदगी जो जिंदगी के काम आए।

(2)

कैसे होते हुए ग़ज़ब देखूँ
तुझको देखूँ बता कि सब देखूँ

किसको मिलता है जहाँ में सब कुछ
मेरा लालच यही कि सब देखूँ

रात-दिन मसअलों से पागल हूँ
तुझको देखूँ बता तो कब देखूँ

उस पे कब का उधार है मेरा
कब तलक ये बता अदब देखूँ

एक बस एक हाँ की खातिर मैं
हर घड़ी अब तुम्हारे लब देखूँ

जान साँसत में फँसी है अंजुम
इश्क देखूँ कि अब मजहब देखूँ।

(3)

पाँव ऐसे न डाल दरिया में
आ रहा है उबाल दरिया में

रात सपनों ने खुदकुशी कर ली
बह गए सब बवाल दरिया में

आ गया फिर चुनाव का मौसम
पड़ रहे फिर से जाल दरिया में

आज बारिश ने शरारत यूँ की-
जम के आया उछाल दरिया में

एक दरिया यूँ शहर से गुज़रा
बह गया सब बवाल दरिया में



खीजकर एक दिन कहा माँ ने-
अब न नेकी को डाल दरिया में।

(4)

है मालूम अब तू हमारा नहीं है
मगर तेरे बिन भी गुज़ारा नहीं है

भँवर है, लहर है, घटाएँ हैं, तूफ़ान
नज़र में अभी तक किनारा नहीं है

मेरी जिंदगी के सितारे थे तुम ही
जो रस्ता दिखाए सितारा नहीं है

ये गठरी तेरी याद की ले रखी है
कभी बोझ दिल से उतारा नहीं है

बिना तेरे दुनिया अगर मिल भी जाए
बिना तेरे दुनिया गवारा नहीं है। □

संपर्क : मो. 9258779744, ई-मेल : ashokanjumaligarh@gmail.com

लगती है क्योंकि वह लड़की बीमारी में उसकी तिमरदारी करती है, उसकी उल्टियों से घृणा नहीं बरतती। भारत में बेटों वाली माताएँ स्वार्थी होती हैं। वे पति-सेवा में अपनी जवानी गँवा कर, अपने बुढ़ापे के प्रति आशावान हो जाती हैं। इस प्रकार पितृसत्ता का रथचक्र घूमता है और अगली पीढ़ी का सीना उसके तले चाक होता है।

हम इक्कीसवीं सदी का लगभग एक-चौथाई हिस्सा जी चुके हैं। यदि अब भी हम स्त्री-दृष्टि को पुरुष की दृष्टि से भिन्न मानेंगे और हमारे नारीवाद से पुरुष गायब रहेंगे तो कहना होगा कि हमने भेदभाव, असमानता, शोषण और पितृसत्ता जैसी अमानुषिक प्रवृत्तियाँ व परंपराओं के खिलाफ़ जंग अभी शुरू भी नहीं की है। जो बातें स्त्रियों अथवा निर्बलों का अहित करती हैं, वे पुरुषों और सबलों के लिए भी अंततः अहितकारी साबित होती हैं। वैसे

ही जैसे गरीब का शोषण कालांतर में अमीरों की असुरक्षा और समाज के नाश का कारक बनता है। प्रकृति ने स्त्री और पुरुष का भेद सृष्टि के लिए रचा है। इसके अलावा, व्यक्ति, परिवार, समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था, विज्ञान, साहित्य व अन्य कलाक्षेत्र में हम उभयनिष्ठ नज़रिया रखें यह ज़रूरी है, जिससे स्त्री-पुरुष प्रश्नों का समन्वय व समाधान हो और समाज का कल्याण हो। यह लेखक फणीश्वरनाथ रेणु का जन्मशती वर्ष है। साहित्यिक अभिलेखों में दबी उनकी कहानी 'तीर्थोदक' के पुनर्वालीकन का इससे सुयोग्य अवसर और क्या हो सकता है! इस कहानी का पाठ हिन्दीभाषी पाठकों के अलावा ग़ैर-हिन्दीभाषी एवं विदेशी पाठकों के लिए भी सुलभ हो सके, इस हेतु जल्द ही 'तीर्थोदक' कहानी का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। उम्मीद है कि पाठक इस सुंदर कहानी को कभी नहीं भूलेंगे। □

● चार गज़लें : भावना



जन्म : 20 फरवरी, 1976, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। गज़ल और कविता की सात पुस्तकें प्रकाशित। 'गज़ल @ लॉकडाउन' संपादित संग्रह। कई पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : व्याख्याता, रसायन शास्त्र विभाग, आर. एस. एस. कॉलेज, मुजफ्फरपुर।

(1)

जिसे पढ़ने को जाना है, उसे नौकर बनाती है
हर इक छोटू के बचपन को गरीबी लील जाती है

नदी के द्वार पर जाकर बसेरा मत बना लेना
बचाती है ये जीवन को तो सब कुछ भी डुबाती है

कहाँ हैं खींचकर लायी लकीरें अपने हाथों की
ये क्रिस्म आदमी से बेवजह क्या-क्या कराती है

दुखों के बादलों में भी सुखों की बूँद छोटी-सी
हवा जब खुशक होती है तो बारिश को बुलाती है

हमारी नम हुई आँखें तो वे ग्रामगीन हो बैठे
इसी कारण बुझी-सी ज़िंदगी फिर झिलमिलाती है

हमारी हरकतों पर इस सदी का हाल है ऐसा
कभी आँसू बहाती है कभी वह तमतमाती है।

(2)

पतली जीभ की मोटी चमड़ी, हृद है यार
चोर-सिपाही हैं अब समधी, हृद है यार

बिल्ली की करतूत सभी को है मालूम
लोग गले में बाँधे घंटी, हृद है यार

जंगल से महलों की दूरी ख़त्म हुई
जोगी-भोगी की है चलती, हृद है यार

बीते युग, बीती सदियों, पर लोग वही
बात वहीं पर आकर ठहरी, हृद है यार

खोजी कुत्ते घर-घर जाकर ढूँढ़ रहे
और छुपे हैं घर में वहशी, हृद है यार

बेटों को परवाज़ की खातिर छोड़ा खुद
बेटी पर है इतनी सख़्ती, हृद है यार।

(3)

कभी हँसती, कभी रोती, कभी चुप्पी लगाती है
ये औरत रोज़ छल-बल की लड़ाई हार जाती है

बताओगे भला क्या तुम मरद की जात जो ठहरे
मुझे मालूम है दुनिया मुझे क्या-क्या बुलाती है

उजालों के इशारे पर कई शक्लों में ढल-ढल कर
मेरी परछाई मुझको ज़िंदगी का सच बताती है

गुज़ारिश है हवा तुमसे, घटाओं को बुला लाओ
मेरी बिटिया इसी उम्मीद पर पौधे लगाती है

डभकते भात की खुशबू उड़ा कर ले गया कोई
किसानों की कटोरी में तो पतली दाल आती है।

(4)

नदियाँ सूखीं, पर्वत समतल, क्या बोलूँ
मैं हूँ या फिर सब हैं पागल, क्या बोलूँ

बालिग-नाबालिग सब वहशत की ज़द में
आज हृदय है कितना घायल, क्या बोलूँ

अफ़सरशाही, सत्ताधारी सब डूबे
घूस बनी है ऐसी दलदल, क्या बोलूँ

शब्दों ने जब भावों से गठजोड़ किया
कितनी है इस दिल में हलचल, क्या बोलूँ

पलकों के आँगन में मोती रखके फिर
कौन लगा आया है साँकल, क्या बोलूँ

उसकी बातें, उसका चेहरा, उसकी याद
मेरे दिल में रहती हर पल, क्या बोलूँ

धरती प्यासी, पनघट सूना-सूना है
दूर बहुत जा बैठा बादल, क्या बोलूँ।

□

संपर्क : मो. 9546333084, ई-मेल : bhavna.201120@gmail.com

● छह गज़लें : सौरभ शेखर



जन्म : 7 जनवरी, 1977 गज़लकार, कवि, आलोचक और लेखक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में गज़लें, नज़्में और कविताएँ प्रकाशित। संप्रति : राज्य सभा सचिवालय में अपर निदेशक।

(1)

जीवन समतल हो, कब ऐसा संभव होता है
पर्वत का, खाई का इसमें अवयव होता है

अच्छा निर्णय अनुभव से ही होता है लेकिन
निर्णय कोई बुरा हो तब ही अनुभव होता है

धरती का संगीत सुनो पौ फटने से पहले
मद्धम रागों का धुन कितना नीरव होता है

घबराहट होती है कुछ लोगों के घर जाकर
इतनी शानो-शौकत, इतना वैभव होता है

प्रीत निभाई है मेरे जैसे मनमौजी से
सच कहता हूँ तुम पर मुझको गौरव होता है।

(2)

बहुत चारा है, बेचारे नहीं हम
लड़ाई में अभी हारे नहीं हम

इबारात कागज़ों पर है हमारी
हवा में तैरते नारे नहीं हम

नमक तो ज़िंदगी ने ख़ूब घोला
मगर हैरत है कि खारे नहीं हम

नज़ाकत से बरतना हम गुलों को
ऐ दुनिया ईट या गारे नहीं हम

यही हासिल है अपनी शायरी का
किसी नक्क़ाद के प्यारे नहीं हम
बताओ अब कहाँ दूँदोगे हमको
सरापे में भी तो सारे नहीं हम।

(3)

बस बहुत हो चुकी गुफ़्तगू ज़ात से
मैं मुखातिब हूँ अब आप हज़रात से

देखिए इसपे करता हूँ कितना अमल
इक इरादा किया तो है कल रात से

सोचने बैठो तो उम्र कट जाएगी
बात कितनी निकलती है इक बात से
इक पहली जो मुझसे सुलझती नहीं
तुमको क्या फ़ायदा है मेरे साथ से

चाल अपनी ज़रा सुस्त रखना प्रिये
हाथ छूटे न मेरा तेरे हाथ से

आ गया ले के दिल मैं भी बाज़ार में
आइए, खेलिए मेरे जज़्बात से

इससे बेहतर रिटायर ही हो जाऊँ मैं
जी उचटने लगा मेरा शह-मात से।

(4)

भई देखो इस बात में कोई दो मत नहीं
प्यार छुपाया जा सकता है, नफ़रत नहीं

सच सुनने की हरगिज़ उसकी हसरत नहीं
और तकल्लुफ़ करना अपनी आदत नहीं

यार कमाया है हमको तो खर्च करो
संदूकों में रखने की हम दौलत नहीं

घर से बाहर निकले तो मालूम हुआ
एक सड़क है दुनिया, कोई पर्वत नहीं

कुछ इच्छा भी तो हो मिलने-जुलने की
वर्ना ऐसा थोड़ी है कि फुर्सत नहीं

एक ज़रा-सा दम घुटता-सा लगता है
बाक़ी इस माहौल से हमको दिक्क़त नहीं

सामानों के बीच कहाँ तू आ बैठा
'सौरभ' इस बाज़ार में तेरी क़ीमत नहीं।
(5)

आओ कुछ इतिहास पढ़ें
आहट और आभास पढ़ें

इक ताक़त की भूख पढ़ें
फिर सत्ता की प्यास पढ़ें

निर्बलता की चीख सुनें
बल का अट्टहास पढ़ें

यौवन की दहलीज़ों पर
जो हैं, वो मधुमास पढ़ें

जिन को भी घर बोझ लगे
वे सज्जन संन्यास पढ़ें

काली नदियों को पढ़ कर
पीली पड़ती घास पढ़ें

अपने दुख के चश्मे से
दुनिया का उल्लास पढ़ें

कब तक जीना है हमको
कब तक कारावास पढ़ें?

(6)

हवा के चेहरे पे छींटे हैं खून के रौशन
हवा चबाती हुई आई है दिये रौशन

वहाँ तो नूर निगाहों का काम आता है
किसे मिले हैं भला बन के रास्ते रौशन

हमारे कुर्ब से ऐ जलने वाले खुश हो जा
हमारे बीच के हैं देख फ़ासले रौशन

कमाल ये है कि सालिम नहीं अँधेरा भी
सियाह शब है कहीं पर, कहीं लगे रौशन

हम एक काम तो कर सकते हैं अँधेरे का
निकाल सकते हैं कुछ इससे तजुर्बे रौशन। □

● चार गज़लें : भरत एस. तिवारी



जन्म : 26 अप्रैल, 1970 (फैजाबाद)।
फोटोग्राफर, पत्रकार और वेब पत्रिका
'शब्दांकन डॉट कॉम' के संपादक। कला,
संस्कृति, संगीत और साहित्य-विषयक लेख
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।

(1)

एक ये भी अब हक्रीकत हो गई है
तुम्हें मुझसे खूब नफ़रत हो गई है

जान है कम्बख़्त जो जाती नहीं है
ये बड़ी और इक मुसीबत हो गई है

इन दिनों कुछ उम्र तेज़ी से बढ़ी है
ये कहीं से कुछ ग़नीमत हो गई है

तोड़ डाले हमने सारे उजले सपने
यों अँधेरे से मुहब्बत हो गई है

कम ही जाते हो 'भरत' दोस्तों के पास
तन्हा रहने की यों आदत हो गई है।

(2)

हर तरफ़ ही आँसूओं ने आँख को घेरा हुआ है
सब उजाला लीलने वाला ये अँधेरा हुआ है

तुम नहीं पर बाज़ आते, फ़र्क़ इंसानों से करते
थक गया मौला जभी सब आज बिखेरा हुआ है

नफ़रतें जो कर रहे हो, तुम नहीं, वो भर रहा है
रख समझ दी जिसके पहरे, वो ही लुटेरा हुआ है

इधर बच्चे की शक्ल पर भूख पसरी दिखती है
और सोशल मीडिया पर, ज़श्न का डेरा हुआ है

ये क्रयामत है जो बरपा, क्या 'भरत' है राज़दारी?
नींद तेरी तोड़ने को क्या ये सबेरा हुआ है?

(3)

अहसास हुआ है, तो सम्हलिए वक्रत से
न भीड़ की तरह, गुज़रिए वक्रत से

सियासतें और दावतें उड़ती-सी चीज़ हैं
इंसानियत बड़ी है, समझिए वक्रत से

झूठों से गलबही की आदत न डालिए
सच वाला बन के रह चिपकिए वक्रत से

चुन-चुन के सारे ज्ञान पे, उँगली है रख उठी
दिल को दिमाग़ ऊपर, परखिए वक्रत से

मुहब्बत में इंतज़ार यों ही हैं बहुत
मुलाक़ात के समय, पहुँचिए वक्रत से

मुश्किलों से 'भरत' लड़िए तो जीतिए
न सोचिए बहुत, जा उबरिए वक्रत से।

(4)

चमकते चाँद को गरहन लगाना काम है उसका
दुकानें रौशनी की फिर सजाना काम है उसका

शहर की आग गाँवों में लगाना काम है उसका
हमारे खेतों को बंजर बनाना काम है उसका

सरे महफ़िल कहेगा दाल-रोटी के भी लाले हैं
मगर चुपचाप मुर्गे को उड़ाना काम है उसका

गुसलखाने की दीवारें तिजोरी से नहीं कमतर
वहाँ भी ईंट सोने की लगाना काम है उसका

नहीं पहचान पाओगे शक्ल-ओ-सूरत करो कोशिश
लगाना आग पहले फिर बुझाना काम है उसका

रहीम-ओ-राम इनके वास्ते सत्ता की हैं कुँजी
धरम के नाम पर सबको लड़ाना काम है उसका

हमें अपना बना कर फ़ायदा वो खुब उठाता है
लगी बाज़ी नहीं के भूल जाना काम है उसका

बना कर कागज़ों पर खेत कहता है करो खेती
नदी की धार पर कब्ज़ा जमाना काम है उसका

'भरत' दिखता नहीं अपने सिवा उसको जहाँ में कुछ
हमारे हक़ की रोटी लूट खाना काम है उसका।

संपर्क : मो. 9811664796, ई-मेल : bharattiwari@gmail.com

● चार गज़लें : विवेक मिश्र



जन्म : 12 दिसंबर, 1987 (जालौन, उत्तर प्रदेश)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। कवि-सम्मेलन के मंचों और मुशायरों में भी सक्रिय। संप्रति : शिक्षक।

(1)

सबसे बड़ा है सामने मेरे, तुम्हारा दुःख
जो है तुम्हारा दुःख, वो ही, हमारा दुःख

फल-फूल छाँव देने वाले पेड़ कह उठे
बरछी कुल्हाड़ी छेनियाँ आरा हमारा दुःख

अब आए हो क्यों पृथ्वी उस वक्त थे कहाँ
रो-रो के तेरी याद में कैसे गुज़ारा दुःख

जाने निजात कब मिलेगी दर्द से इसे
सुख की तलाश में फिरे है मारा-मारा दुःख

माज़ी के सारे नक्शे फ़ना कर चुका था मैं
लेकर के नाम आज फिर किसका, पुकारा दुःख

तुम वस्ल के मुरीद रहे हो तुम्हें नसीब
मैं हिज़्र का तबीब-सो आँखों को प्यारा दुःख।

(2)

अज़ाबे फ़रहाद जैसा जज़्बा निकालते हैं
वो जो पहाड़ों को काट झरना निकालते हैं

हमारी तिश्नालीबी की शिद्दत पे हँसने वालो
सराब-ए-सहरा* से हम तो दरया निकालते हैं

है बेवफ़ा से अजीब निस्वत, रहे सलामत
सो उसकी यादों का अश्के सदक़ा निकालते हैं

सुनो मियाँ न रसूख-ए-कुन्बा सुनाओ हमको
यतीमख़ाने में हम ही शिजरा निकालते हैं

ये हुक्मराँ जो हैं लाल बत्ती की गाड़ियों में
फ़क़त इलैक्शन में अपना कासा निकालते हैं।

*सराब-ए-सहरा-रेंगिस्तान की मरीचिका

(3)

एक अहसास का ही छाला है
जिसको सीने में हमने पाला है

चाँद गुज़रा था इस गली से क्या
राह में अब तलक उजाला है

रंग सब उड़ गए हैं आँखों के
कौन-सा रंग तूने डाला है

नाखुदा छोड़ कर गया जब से
तब से मौजों ने ही सँभाला है

दिल मिरा है उसी की यादों में
जिसने दिल से मुझे निकाला है।

(4)

ग्रामों को जीत ले ऐसी खुशी बनाना है
पहाड़ काटकर मुझको नदी बनाना है

ये तेरा वक्त महज़ चंद साल का ज़ालिम
अमन की चैन की मुझको सदी बनाना है

ये ज़ख्मी रिस्ते रफू के बिना न सँभलेंगे
सो मुझको तेरा नहीं अब सुई बनाना है

अज़ल सिसकती हुई इल्तेजा खुदा से करे
बस एक बार मुझे ज़िंदगी बनाना है

शिकार तूने हमेशा किया अँधेरे में
सो इस लिहाज़ मुझे रोशनी बनाना है

फ़रेबी दौर के बादल पे मत यक़ीं करना
कि जिनको आब नहीं तिश्नी बनाना है। □

संपर्क : मो. 9795656578, ई-मेल : vivekmishra182@gmail.com

● दो गज़लें : धर्मेन्द्र गुप्त 'साहिल'



जन्म : 7 जुलाई, 1964 (वाराणसी)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। दो पुस्तकें प्रकाशित। कई साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित। संप्रति : 8 वर्षों से 'समकालीन स्पंदन' त्रैमासिक का संपादन।

(1)

तुम समय की किताब पढ़ लेना
हर वरक़ पर अज़ाब पढ़ लेना

वक्त के शाह अपने माथे पर
तुम भी इक इंकलाब पढ़ लेना

इतना बरबाद कर रहे हो जल
अपने कल में सराब पढ़ लेना

जिस जगह हो कमी न गेहूँ की
उस जगह तुम गुलाब पढ़ लेना

अपने हर इक सवाल का ऐ दोस्त!
खुद में ही तुम जवाब पढ़ लेना।

(2)

जिनके अंदर पोल रहे हैं
बनके वही तो ढोल रहे हैं

हृद से ज़ियादा बोल रहे हैं
सब्र वो मेरा तोल रहे हैं

मौन धरे हैं कहने वाले
बोलने वाले बोल रहे हैं

फिर क़लमें तलवार बनी हैं
फिर सिंहासन डोल रहे हैं

कुछ वो भी चुप-चुप से हैं अब
कुछ हम भी कम बोल रहे हैं। □

संपर्क : मो. 08935065229

ई-मेल : dharmendraguptsahil@gmail.com

लोक में प्रेम के बीज रोपता कवि

नीरज कुमार मिश्र



जन्म : बौदा (उत्तर प्रदेश)। युवा आलोचक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख और समीक्षा प्रकाशित। 'अज्ञेय' के उपन्यास: 'स्त्री प्रश्न और परिप्रेक्ष्य' पुस्तक प्रकाशित।

1990 के आसपास का समय भारतीय राजनीति, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन का दौर था। अपने समय में हो रहे इन बदलावों की झलक उस समय के साहित्य में देखी जा सकती है। उस समय का साहित्य इन परिवर्तनों के बीच नई साहित्यिक चेतनाओं और चेष्टाओं का विकास करता दिखता है।

इस साहित्यिक विकास की परख कविता से अच्छा कौन कर सकता है। इसीलिए इन साहित्यिक परिवर्तनों को एक कवि मन बहुत सूक्ष्मता से परखता है। कवि जितेंद्र श्रीवास्तव ऐसे ही सजग कवि हैं। जिन्होंने इन परिवर्तनों को बहुत शिद्ध से महसूस किया है। जिसके बाद उनका संबंध समाज से जुड़ा दिखता है। इस जुड़ाव के बाद कवि की अपनी कोई सत्ता नहीं रह जाती। जिसकी ओर शुक्लजी ने इशारा किया है, “कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच उसका आधिकारिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।” कवि जितेंद्र श्रीवास्तव का अभी हाल ही में प्रकाशित कविता-संग्रह ‘उजास’ इस कवि के विश्व-हृदय में रूपायित होने की गाथा है। ये संग्रह ‘उजास’ उनके तीन पहले के संग्रहों- ‘अनभै कथा’ (2003), ‘असुंदर सुंदर’ (2008) और ‘इन दिनों हालचाल’ (2000, 2011) का संकलित रूप है।

‘उजास’ वह शक्ति है जिसके माध्यम से हम समाज की प्रत्येक वस्तु को बहुत सूक्ष्मता से देखते-परखते हैं। इस कविता संग्रह का नाम कवि ने उचित ही रखा है क्योंकि जहाँ खुशी है वहाँ उजास है। ‘बेटियाँ’ कविता में कवि इस बात को पुष्ट करता है- ‘जितनी हँसी होती है बेटियों के अधर पर / उतनी उजास होती है पिता के जीवन में’ / कवि खुद पिता है। हम जानते हैं कि पिता जिम्मेदारी का दूसरा नाम है। इसी अनुभूति का प्रतिफलन है कविता ‘पिता’-‘पिता होना / जिम्मेदार आदमी हो जाना है।’ वे ऐसे कवि हैं, जो समाज में घटित घटनाओं का संज्ञान लेते हुए,

बदलते हुए समय के अनुसार अपनी कविताओं की भूमिका तय करते हैं। यही वजह है कि उनकी कविताएँ समाज के नए उद्देश्यों से जुड़ी हुई दिखती हैं। इनकी कविताएँ अनुभूति और विचार की उर्वर भूमि से उपजी हैं। ये कविता-संग्रह कवि की कविता यात्रा के अनेक सोपानों को एक साथ लाता है जिसके माध्यम से कवि के कविता की विकास यात्रा को ठीक से समझ सकते हैं। इनकी कविताएँ किसी कथावाचक की कथा नहीं हैं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक अनुभव के ताप से पगी हैं।

कवि समाज से मिले अनुभूत सत्य को कविताओं के माध्यम से पाठकों के सामने लाता है। ये कवि कागद की लेखी पर नहीं आँखिन देखी पर ज़्यादा विश्वास करता है। इसीलिए ये कबीर के ज़्यादा निकट दिखते हैं। आज जहाँ देखो बाज़ार और पितृसत्ता का गठजोड़ दिखाई देता है। दोनों की जुगलबंदी आज का भयावह सच है। ऐसे समय में स्त्री के मानवीय सौंदर्य की अनदेखी हो रही है। बाज़ार ने स्त्री को सिर्फ़ देह तक ही सीमित कर दिया है।

‘प्यार माने / स्त्री माने देह / यही है दर्शन / यही है दृष्टि/ बाज़ार की।’

उस समय बाज़ार की इस दृष्टि को जितेंद्र श्रीवास्तव जैसा संवेदनशील कवि न केवल देखता, बल्कि अपनी कविता ‘स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को’ के माध्यम से स्त्री सत्ता को प्रतिष्ठित भी करता है-

‘इस प्रकार एक अपरिचित शहर में / असमय मृत्यु से बचाती रही / स्मृतियों में बसी एक स्त्री / स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को’

ये कवि समाज की सभी स्त्रियों को ऐसे गाँव में ले जाना चाहता है। जहाँ स्त्री पूरी तरह से मुक्त हो। जहाँ अब भी बचा हो उत्सव जीवन का। जहाँ गाती हैं स्त्रियाँ नाचती हैं स्त्रियाँ / सुख की बनी-बनाई परिभाषाओं को बदलते हुए / जहाँ जीवन को मिलता है नया अर्थ / चलो उस गाँव चलें।

कवि जितेंद्र श्रीवास्तव की कविताओं में स्त्री मुक्ति और उसकी स्वतंत्रता की कामना सर्वत्र देखी जा सकती है। यही वजह



है कि इनके यहाँ स्त्रियाँ अपने जीवन के तमाम फ़ैसले स्वयं करना चाहती हैं। हम समाज में स्त्रियाँ कई रूपों में अपनी ज़िम्मेदारी को एक साथ निभाती दिखती हैं। दिन-रात काम में खपती ये स्त्रियाँ अपने होने को लेकर कई बार बिलखती हुई विधाता को कोसती हैं-

‘वे भाग्य की बात करती हुई / हँसती हैं विधाता पर / कभी कोसती हैं विधाता को / कहती हैं जो विधाता स्त्री होता / तो सोचो सखि, कैसा होता!’

कवि की चाह है कि स्त्रियों पर किसी तरह का भी बँधन न हो। वे कहीं भी जा सकती हों, किसी से भी कहीं भी मिल सकती हों, खुलकर खिलखिला सकती हों। मनुष्य के भीतर का जो सच पुतलियों में अटका रहता है, उसे आँख में आँख डालकर देख सकती हों। कवि ये मानता है कि आजकल की स्त्रियाँ खूबसूरत पहाड़ नहीं होतीं, जिनकी कोई मर्जी ही न हो। समाज में सारे अनुभवों को सँजोकर रखने वाली अनेक स्त्रियाँ रमिया जैसी भी हैं जो पितृसत्तात्मक सत्ता को ही अपने अंदर बैठाए रखना चाहती हैं। वे अपने आत्मबल और अदम्य साहस को पहचान नहीं पातीं। यही वजह भी कि वे उत्तर-आधुनिक युग में भी उससे मुक्त नहीं होना चाहतीं-

‘रमिया पुरुष को महान मानती है / पुरुष के बिना जीवन बेकार मानती है/ मर्द को औरत के मन का लगाम मानती है / अपना सब कुछ उसी का / उधार मानती है रमिया/ रमिया और भी बहुत कुछ मानती है / लेकिन / अपने अंदर घुसे पुरुष को नहीं पहचानती।’

प्रचलित लोककथा को आधार बनाकर कवि अपनी कविता ‘सोनचिरई’ के माध्यम से समाज की उस बुराई पर चोट करता है, जो समाज में व्याप्त अंधविश्वास और अज्ञानता पर टिकी खोखली परंपरा अभी भी समाज में बनी हुई है। समाज की ये अज्ञानता ही है कि स्त्री के माँ न बनने पर पूरा दोष उसी का माना जाता है। इस लोककथा के माध्यम से आधुनिक स्त्री-विमर्श के पक्ष में खड़ा कवि स्त्री की महत्ता को प्रतिष्ठापित करता है-

‘वह स्त्री थी / और स्त्रियाँ कभी बाँझ नहीं होतीं / वे रचती हैं! / वे रचती हैं तभी हम-आप होते हैं / तभी दुनिया होती है / रचने का साहस पुरुष में नहीं होता / वे होती हैं तभी पुरुष / पुरुष होते हैं।’

इनकी कविताओं ‘धारचूला की छात्राएँ’, ‘सोनमछरी’, ‘सपने में लड़की’, ‘क्रस्बे में प्रेमिका’, ‘घास गढ़ती औरतें’, ‘तुम कहाँ हो सुलेखा’, ‘लड़कियाँ’, ‘आभा चतुर्वेदी’, ‘सोनचिरई’, ‘पुकार’, ‘जनवरी की एक सुबह उठी तीन स्त्रियाँ’, ‘दुख का पहाड़’, ‘जो विधाता स्त्री होता’, ‘किराएदार की तरह’, ‘सपने में एक लड़की सोनमछरी’, आदि में स्त्री संघर्ष और उसकी मुक्ति के अनेक रूप आपको देखने को मिल जाएँगे।

इस संग्रह की स्त्रियाँ अपने अंदर सुलगती हुई राख रखती हैं, जिसकी आग को समय और परिस्थितियों के अनुसार उपयोग कर सकें- ‘घास गढ़ती औरतें / सोने से पहले सुबह के लिए / बोरसी की राख में छिपा कर / रख देती हैं थोड़ी सी आग।’

किसी भी कवि की कविता का मज़बूत धरातल होता है लोक। लोक ऐसा तत्व है जिससे कविता कालजयी बनती है। विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी से लेकर त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि कवियों की कविताएँ शास्त्रों के पांडित्य प्रदर्शन की वजह से नहीं, बल्कि लोक चित्रण की वजह से

कालजयी हैं। इसके लिए सबसे ज़रूरी है लोक को जानना, उसको जीना, उसको महसूस करके उनमें रचना-बसना।

कवि ने लोक को जिया भी है और उसे भोगा भी है। यही वजह है कि इस कवि ने लोक को अपनी कविता में विस्तार दिया है। जितेंद्र श्रीवास्तव आचार्य द्विवेदी की तरह लोक विस्तार के हिमायती हैं। इसीलिए इनकी कविताओं में श्रम की आँच में तपे अनेक चेहरों से बना लोक का चेहरा देखा जा सकता है-

‘यदि कोई देखना चाहे / हमारे लोक का चेहरा / वह देख सकता है / श्रम की आँच में तपे इनके चेहरे / इनके चेहरों पर / हमारी साँवली आभा के साथ / दिपदिपाता है हमारा लोक।’

कवि को लोक-जीवन से इतना लगाव है कि उसने धतूरा, भुट्टा, खुरपी, कुदाल, बैसला, बैल, कछार, बधुआ, बेना, नवान्न, लुंगी आदि अनेक लोक-जीवन से जुड़े शब्दों को लेकर कविताएँ रची हैं। इनकी कविता में आया गँवई पीढ़ा महज़ लकड़ी का टुकड़ा नहीं है बल्कि सांप्रदायिकता का प्रतीक है।

वह कवि की माँ की सबसे प्रिय किताब है जिसमें माँ का जीवन-संघर्ष और पिता के सपने जुड़े हैं। इनके यहाँ रामखिलावन और रामबचन भगत जैस सक्रिय देह वाले लोग भी हैं, जिनके लिए नौद उत्सव की तरह होती है क्योंकि ‘नौद बिछौने को नहीं, देह को आती है’। जो जानते हैं कछार को वो ऐसे कितने सक्रिय देह वाले किसानों के जीवन को जानते होंगे, जो बार-बार बर्बाद होती फ़सलों के बाद भी ये मन नहीं हारते बल्कि-

‘तन-मन-धन से / धरती की कोख भरने में जुटे / ये किसान / हर बार बीज के साथ बोते हैं उम्मीद भी।’

सही मायने में जितेंद्र श्रीवास्तव लोक-जीवन, उसकी विडंबनाओं और सक्रिय देह के पक्ष में खड़े रहने वाले कवि हैं। यही वजह है कि ये केदारनाथ सिंह की परंपरा के ज़्यादा नज़दीक लगते हैं। केदारनाथ सिंह की कविताओं में आए लोक-जीवन से जुड़े अनेक शब्दों जैसे कुदाल, बोरसी आदि को अपने अलग रूप में आप इनकी कविताओं में भी देख सकते हैं। यदि एक तरफ़ केदारजी के सामने कुदाल के विस्थापन के दर्द से उठे कई सवाल हैं-

‘अंत में कुदाल के सामने रुककर / मैंने कुछ देर सोचा कुदाल के बारे में / सोचते हुए लगा उसे कंधे पर रखकर / किसी अदृश्य अदालत में खड़ा हूँ / पृथ्वी पर कुदाल के होने की गवाही में / पर सवाल अब भी वहीं था / वहीं जहाँ उसे रखकर चला गया था माली / मेरे लिए सदी का सबसे अधिक कठिन सवाल / कि क्या हो-अब क्या हो कुदाल का / क्योंकि अँधेरा बढ़ता जा रहा था / और अँधेरे में धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था / कुदाल का क्रद / और अब उसे दरवाज़े पर छोड़ना / खतरनाक था / सड़क पर रख देना असंभव / मेरे घर में कुदाल के लिए जगह नहीं थी।’ / व दूसरी तरफ़ कवि की कुदाल सोचती भी है और ज़रूरी सवाल भी करती है-

‘प्रजातंत्र के मतदाता / और किसान की कुदाल में / होना ही चाहिए कोई मूलभूत अंतर / खेत की मेड़ पर खड़ी कुदाल / सोच रही है / और लोग चिंतित हैं कि कुदाल सोच रही है।’ समाज में यदि मज़दूर और श्रमिक सोचने लगता है तो लोग चिंतित होने लगते हैं। ये तय है कि जो सोचेगा वही तो सवाल करेगा। सवाल करने वालों से सत्ता भी डरती है। ये कवि गँवई खुशबू और उनके स्वाद को अच्छे से जानता-पहचानता है। इसीलिए वह कामना करता है कि फ़सल कटने से पहले सभी घरों में नवान्न

का उत्सव होना चाहिए। इस संग्रह की कविता 'भुट्टा'—

'मक्के की देह में / कमर में कटार की तरह / तनी है बाल।'

केदारनाथ अग्रवाल की कविता 'एक बीते के बराबर ठिगना चना' की याद दिलाती है। विकास की अँधी दौड़ ने शहरीकरण को बहुत बढ़ावा दिया है। ये शहरीकरण मनुष्य के मन के रसायन को कब बदल देता है, पता ही नहीं चलता। उस रसायन बदलने से बहुत सारे बदलाव दिखाई पड़ते हैं। जिन लोक के शब्दों की उँगली पकड़कर भाषा को सीखकर दुनिया पहचानी वही शब्द इस रसायन के प्रभाव से या तो गँवारू लगने लगते हैं या वो बिला ही जाते हैं। कवि इसी बात से दुःखी है कि—

'बहुत दिन हुए / किसी के मुँह से / नहीं सुना 'तरकारी'।'

कवि की चिंता वाजिब है कि इस दौर में बहुत तेजी से बदल रहे हैं लोक और क्रस्वों के हाव-भाव। बाज़ार के तंत्र ने सबको अपनी ओर आकर्षित किया है जिससे यहाँ की संस्कृति में भी अपरिचय की भावना बढ़ती जा रही है—

'अब क्रस्वों में बहुत दिनों तक / चल नहीं पाता काम / विश्वास और भरोसे पर / अब वहाँ अपना अर्थ बदल रहे हैं मुहावरे / समा रहे हैं तेज़ी से बाज़ार के पेट में।' गाँव और क्रस्वों से शहरों की तरफ आमजन का पलायन करवाकर अब पूँजी और बाज़ार ने अपनी पैनी नज़र शहरों पर गड़ा रखी है। इस नज़र को ये कवि बखूबी पहचानता है। उसे डर है कि बाज़ार की चमक में अब शहर भी न बिला जाएँ—

'मेरे लिए यह विषाद की घड़ी है / इस समय ठकुआ गया हूँ मैं / वैसे कहाँ हैं आप ! / जरा पलट कर देखिए / कहीं बिला

तो नहीं रहा / आपका भी शहर!'

आज के समय में प्रेम की बहुत ज़रूरत है। प्रेम को लेकर इस कवि ने अनेक कविताएँ लिखी हैं। प्रेम के अनेक पहलुओं को इस संग्रह की कविताओं में देख सकते हैं।

'प्रेम करते हुए हमने जाना / प्रेम करते हुए लोग / रचते हैं कविताएँ एक-दूसरे में / एक-दूसरे का होना / उनकी कविता का पूरा होना है।'

कवि इसी बात से चिंतित है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में लोग धीरे-धीरे भूलने न लगें कि प्रेम जैसी भी कोई बात होती थी। कहीं इस विकट समय में प्रेम गूलर का फूल न हो जाए—

'इक्कीसवीं सदी की दहलीज़ पर चढ़ रहे समाज में / इससे बड़ी त्रासदी न होगी / कि प्रेम एक वर्जित फल बन जाए।'

इनकी कविताओं में आया प्रेम वासनाजन्य प्रेम नहीं है बल्कि ये प्रेम विश्वास, आस्था और समानता के सहचर से उपजा है। इनकी कविताओं में आया प्रेम क्षणिकता का बोध नहीं है बल्कि वह जीव की अनवरत यात्रा की तरह है जो दूर रहकर भी उसके अहसास को हमेशा जगाए रहता है—

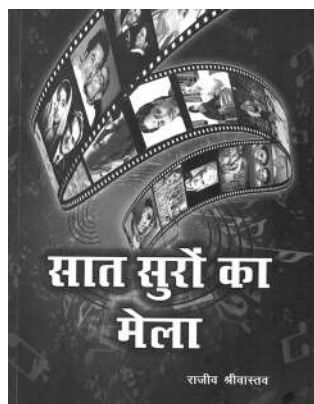
'मैं तुम्हें पहचानता हूँ / अपनी हथेली की तरह / तुम्हारे माथे पर / उभर आई रेखाएँ / मेरे हाथ की लकीरों जैसी दिखती हैं।'

जितेंद्र श्रीवास्तव जितने अच्छे कवि हैं, उतने ही अच्छे आलोचक भी हैं लेकिन न कवि में आलोचक हावी होता और न ही आलोचक में कवि बल्कि ये दोनों एक-दूसरे की उँगलियों को पकड़े एक-दूसरे को संबल देते हुए साहित्यिक यात्रा करते हैं।

(कृति : 'उजास', कवि : जितेंद्र श्रीवास्तव; प्रकाशक : सेतु

प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण: 2019; मूल्य : 300 रुपये, पृष्ठ : 328) □

● पुस्तक परिचय



सात सुरों का मेला

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन,
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली-110003

लेखक : राजीव श्रीवास्तव

पृष्ठ : 310

मूल्य : 515 रुपये (पेपरबैक)

हिंदुस्तानी सिनेमा की उम्र अब सौ साल से ऊपर की हो चुकी है। इस बीच हिन्दी सिनेमा के बारे में बहुत कुछ लिखा, कहा और दिखाया जा चुका है। इसी क्रम में 'सात सुरों का मेला' नामक यह पुस्तक काफ़ी महत्वपूर्ण है।

भारत में सिनेमा अपने प्रारंभिक काल से ही समाज, संस्कृति और साहित्य का दर्पण रहा है। प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में फ़िल्मी गीतों का इतिहास, विज्ञान यात्रा, चुनौतियाँ, उपलब्धि तथा अनेक अन्य महत्वपूर्ण प्रसंगों को शामिल किया गया है तथा कई भ्रातियों, अवधारणों और मतों की वास्तविकताओं की जानकारी भी दी गई है।

पुस्तक में भारतीय सिनेमा गीत-संगीत की कथा को कुल छह अध्यायों में बाँटा गया है। पहले अध्याय में बोलती फ़िल्म के दौर की बात करते हुए उस समय के गीतों की प्रकृति की विवेचना है। दूसरे अध्याय में स्वाधीनता से पूर्व एवं पश्चात के सिने गीतों पर चर्चा की गई है।

1951-1970 के दो दशक हिन्दी सिनेमा में स्वर्ण-काल के रूप में याद किए जाते हैं। पुस्तक के छठे अध्याय में वर्ष 1971 से लेकर अब तक के पाँच दशक के फ़िल्मी गीतों पर चर्चा की गई है। पुस्तक में फ़िल्मों से जुड़े ऐसे कई महत्वपूर्ण एवं दुर्लभ चित्र भी हैं जो पुस्तक की महत्ता को बढ़ाते हैं। इसकी साज-सज्जा भी आकर्षक है। इसके आंतरिक पृष्ठों पर विश्वप्रसिद्ध कलाकार प्रोफ़ेसर एस. प्रणाम सिंह के कुछ 'पोट्रेट' भी हैं जिससे निश्चित रूप से पुस्तक और आकर्षक बन पड़ी है।

सुप्रसिद्ध शायर-सिने गीतकार हसरत जयपुरी ने पुस्तक के शीर्षक 'सात सुरों का मेला' से प्रभावित होकर एक कविता लिखी थी। उनकी वह कविता उनके निधन के बीस वर्षों बाद इस पुस्तक के माध्यम से प्रकाशित हुई है, जो कि पुस्तक को बेहद खास बनाती है। यह पुस्तक फ़िल्मों, फ़िल्मी गीत-संगीत, कलाकारों, गायक-गायिकाओं से जुड़ी घटनाओं में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों एवं उस क्षेत्र में शोध करने वाले छात्र-छात्राओं के लिए निःसंदेह काफ़ी उपयोगी साबित होगी।

प्रस्तुति : रेमी कुमारी

हमारे प्रकाशन

गांधी साहित्य, भारतीय इतिहास,
जाने-माने व्यक्तियों की जीवनियां, उनके भाषण और लेखन,
कला एवं संस्कृति, आधुनिक भारत के निर्माता
शृंखला की पुस्तकें, बाल साहित्य



चुनिंदा ई-बुक एमेज़ॉन और गूगल प्ले पर उपलब्ध



प्रकाशन विभाग

सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।
ऑर्डर के लिए कृपया संपर्क करें : फोन : 011-24367260, 24365610 ई-मेल : businesswng@gmail.com
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in



@DPD_India

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) - 05/3222/2018-20 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2018-20
Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2018-20
Licenced U (DN) - 49/2018-20 to post without pre-payment at RMS Delhi
दिल्ली डाक आर एन आई 701/57
Delhi Postal RNI 701/57
● 10 जुलाई 2020 को प्रकाशित ● 21-22 जुलाई 2020 को डाक द्वारा जारी ● वार्षिक मूल्य : ₹ 230

